राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक – फतहसिंह, एम.ए., डी.लिट्.

[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क १०५

सिन्धुघाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक

लेखक
डॉ० फतहसिंह

३८/३

प्रकाशक

राजस्थान-राज्य-संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR

१९६९ ई०

प्रथमावृत्ति ७५०

मूल्य ५.००

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम.ए.,डी.लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क १०५

सिन्धुघाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक

प्रकाशक

राजस्थान-राज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

१९६९ ई०

वि० सं० २०२५ भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८९०

मुद्रक—हरिप्रसाद पारीक, साधना प्रेस, जोधपुर

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तिका सिन्धुघाटी की लिपि को पढ़ने के लिये किये गये मेरे प्रयत्नों के परिणामों का परिचय-मात्र करवाती है। स्वाहा के प्रथम अङ्क में भी इसको प्रकाशित किया जा रहा है, परन्तु विषय के महत्व को देख कर, इसको एक पृथक् पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित करना उपयुक्त समझा गया है।

इस पुस्तक में कुल मिलाकर लगभग ५०० मुद्राचित्रों एवं मुद्रालेखों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा अन्त में २४१ लेखों के पाठ पृथक् से दिये गये हैं। खेद है कि इन सभी मुद्राचित्रों अथवा मुद्राओं के ब्लॉक नहीं तैयार हो सके, अतः उदाहरणार्थ केवल ५७ चित्रों के ही चित्र दिये जा सके हैं। लिपि का अध्ययन करते समय मुझे सिन्धुघाटी में जो चार लिपियां प्राप्त हुई हैं उनके नमूनों के चित्र भी छापे जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त वर्णमाला के जितने वर्णों की अभी तक पहचान हो सकी है, उनको भी इसी के साथ विद्वानों के सूचनार्थ दिया जा रहा है। इस समस्त अध्ययन-सामग्री का आधार भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग (आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया) द्वारा प्रकाशित निम्न-लिखित ग्रंथ हैं :—

(1) Mohenjodaro and the Indus Civilization
edited by John Marshal

(2) Further Excavations at Mohenjodaro
edited by F J.H. Mackay

(3) Excavations at Harappa
edited by M.S. Vats

सम्बन्धित चित्रों के उपयोग के लिये भारत सरकार के उक्त विभाग ने हमारी प्रार्थना पर हमें जो अनुमति प्रदान की है उसके लिये हम उक्त विभाग के हृदय से आभारी हैं।

बहुत सावधानी रखने पर भी, पुस्तक में कई त्रुटियां रह गई हैं, विशेष रूप से कुछ अंश छपने से छूट गया है इसको पृ० ४६ पर पंक्ति १५ के बाद पढ़ा जाना चाहिए; यह छूटा हुआ अंश निम्नलिखित है:—

विदेहजनक-ज्ञान और कर्म का समन्वय

उपर्युक्त चतुर्विध अत्रि के साथ एक समष्टिवर्ण में वृत्र, अपद्वय तथा मकारद्वय से युक्त 'अन' शब्द का समावेश है। व्यष्टिगत तथ्यों के संदर्भ में अपद्वय अन और अन्न की दृष्टि से क्रमशः सूक्ष्म एवं स्थूल अथवा आध्यात्मिक (ज्ञानमय) और भौतिक कर्म के द्योतक होते हैं तथा उनका स्रोतस्वरूप उभयात्मक मन दो मकारों द्वारा एवं अद्वैत मन एक शीर्षाकार म-वर्ण द्वारा दिखाया जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें हड़प्पा से प्राप्त एक दोपहली मुद्रा[1] में प्राप्त होता है। इसमें एक शीर्षाकार मकार के नीचे दो चतुर्भुजात्मक संयुक्त मकार हैं जिनसे दो दंडाकार अवर्णों से प-वर्णों को संयुक्त करके दो बार 'अप' लिखा गया है और इन दोनों के बीच में 'अन' शब्द इस प्रकार लिखा गया है कि नकार से पैर और अकार से मेरुदण्ड-सा बन जाय; और उसके ऊपर दो संयुक्त मकारों से वक्षस्थल तथा शीर्षाकार मकार से शिर का निर्माण करके एक पुरुषाकृति खड़ी करदी है जिसके दोनों ओर लिखे हुये 'अप' ऐसे लगते हैं मानो पुरुष अपने दोनों हाथो में दो छड़े लटकाये हुये हो।

उक्त मुद्रा के दोनों ओर इस प्रकार का एक-एक पुरुषाकार समष्टिवर्ण है और दोनों के साथ एक ही सा लेख 'अत्रि अम वृत्श' (वृक्ष) लिखा है। परंतु दोनों के साथ चित्र भिन्न-भिन्न हैं। एक के साथ एक ओर तो नाचते हुये दो वही व्याघ्र या सिंह हैं जो अन्यत्र ज्ञान एवं कर्म के प्रतीक होकर लड़ते हुये[2] या अनान्न की संयुक्त इकाई (देह) को, एक दूसरे की ओर खींचते हुये दिखाये[3] गए हैं और दोनों को क्रमशः 'वृत्र नागद्वय'[4] तथा '११ अन्न' अथवा 'अत्रि अग्नि'[5] एवं 'ञान' (ज्ञान ?) नाम दिया गया है। उक्त पुरुषाकार समष्टिवर्ण इस ज्ञान-कर्म-समन्वयशील प्रतीक की ओर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। दूसरे सिरे पर एक पुरुष को शिर के बल इस प्रकार उलटा किया गया है कि वह एक सूखे वृक्ष के ठंठ सा दिखाई देता है; और इसके मूलाधार से प्रस्फुटित होती हुई चार पत्तियों सहित एक नवीन शाखा बनाई गई है। जो छान्दोग्य उपनिषद्[6] के निम्नलिखित वाक्य को चरितार्थ करती है :—

(१) MEH. plate XCIII, seal, 304.
(२) वही, plate XCV, seal 454.
(३) वही, plate LXXXV, seal 122.
(४) वही ,,
(५) वही, plate LXXXIV, seal 75.
(६) छा० उ० ५, २, ६, ७।

यद्येनत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयात्, जायेरन् एव अस्मिन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि—अर्थात् यदि इस सत्य को किसी सूखे ठूंठ से भी कह दिया जाय, तो उसमें भी शाखायें पैदा हो जावें और पत्ते निकलने लगें।"

इस महान् त्रुटि के लिये क्षमायाचना करते हुये मैं विद्वान् पाठकों से निवेदन करता हूँ कि वे कृपया मेरे प्रयास की सम्यक् समीक्षा करते हुये अपने-अपने बहुमूल्य सुझाव भेजने की कृपा करें। यद्यपि सिन्धुघाटी-लिपि को पढ़ने तथा मुद्राओं पर प्राप्त लेखों एवं चित्रों का पूर्ण रूप से अध्ययन करने के लिये अभी मुझे बहुत कुछ लिखना है, परन्तु यहाँ जो कुछ प्रस्तुत किया गया है उसका विद्वत्समाज द्वारा मूल्यांकन हुये बिना आगे बढ़ना ठीक नहीं होता। इस पुस्तिका के प्रकाशन का यही औचित्य है।

इस कार्य में प्रतिष्ठान के सम्पादन तथा प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष सर्वश्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी तथा महोपाध्याय विनयसागर से मुझे बड़ी सहायता मिली है अतः मैं उनको हृदय से धन्यवाद अर्पित करता हूँ। सन्दर्भ-पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री पद्मधर पाठक ने मेरे इस अन्वेषण-कार्य में जो सौहार्द-पूर्ण सहयोग दिया है, उसको भी नहीं भुलाया जा सकता और न साधना प्रेस के व्यवस्थापक श्री हरिप्रसादजी पारीक के प्रकाशन-सम्बन्धी बहुमूल्य सुझावों को विस्मृत किया जा सकता है। अतः इन दोनों सज्जनों के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। सुश्री इला चौहान ने लिपि-सम्बन्धी ब्लॉकों को तैयार करने में जो श्रद्धापूर्ण सहयोग दिया है उसके लिये उसको शुभाशीर्वाद देना भी मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

पौष शुक्ला पूर्णिमा, सं० २०२५
जोधपुर (राज०)

फतहसिंह

विषयानुक्रम

	पृष्ठाङ्क
१. परिचय	१–६८
सिन्धुघाटी की लिपि	२–४
सिन्धुघाटी का अवर्ण	४–१०
वरुण और वृत्र	१०–१२
दक्षिणावर्त और वामावर्त	१२–१३
स्वस्तिकद्वय तथा क्रॉस	१३–१४
क्रॉस और मन	१४–१५
मानव-व्यक्तित्व में मन का परिवेष्टन	१५–१६
वृत्रवरुण मानव	१६–१७
मानव-व्यक्तित्व के तीन पक्ष	१७–२१
द्विश्रृंगी पशु और पुरुष	२१–
द्विश्रृंगी पशु और वृक्ष	२२–२९
अन्नाद अग्नि	३०–३८
अश्वत्थ वृक्ष	३८–३९
अश्वत्थ वृक्ष की गौ	३९–४०
गोधा और महिष	४०–४३
ओंकार-भेद	४३–४५
वषट् और वृषट्	४५–४७
यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे	४७–४९
विदहजनक—ज्ञान और कर्म का समन्वय (देखें-प्रवकथन)	४९–५०
यथा देहे तथा देशे	५०–५१
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः	५२–
इन्द्रावरुणौ सम्राजौ	५२–५४
भारत-राष्ट्र के विभिन्न घटक	५४–५५
ब्रह्मदेश या बर्मा	५५–५६
भारतीय प्रदेशों के नामोल्लेख का अभिप्राय	५७–५८
तामिल तथा बौद्ध-परम्परा का प्रमाण	५८–६०
उपसहार	६०–
संस्कृत-भाषा	६०–६१
विश्व का प्रथम मुद्रणालय	६१–
तथाकथित वृक्षपूजा और पशुपूजा	६१–६८
२. सिन्धुघाटी के कुछ मुद्रालेख	६९–७६

सङ्केतसूची

{MFEM : Mackay Further excavation at mohenjodaro.
MFE

MIC : Mohenjodaro and the Indus Civilization.

{MEH : Madho Swarup Vats : Excavations at Harappa.
MS.E H.

श्वे० उ०	=	श्वेताश्वतरोपनिषत्
तु० क०	=	तुलना करो
छा० उ०	=	छान्दोग्योपनिषत्
गो० उ०	=	गोपथब्राह्मण (उत्तरभाग)
गो० पू०	=	,, ,, (पूर्व भाग)
गो० ब्रा०	=	,, ,,
श०	=	शतपथब्राह्मण
श० ब्रा०		,,
बृ० उ०	=	बृहदारण्यकोपनिषत्
ऐ० ब्रा०	=	ऐतरेयब्राह्मण
ऐ० उ०	=	ऐतेरेयोपनिषत्
ऋ०	=	ऋग्वेद
ऋ० वे०	=	,,
मु० उ०	=	मुण्डकोपनिषत्
ष० ब्रा०	=	षड्विंशब्राह्मण
तां०	=	ताण्डयब्राह्मण
तै०	=	तैत्तिरीयब्राह्मण
तै० ब्रा०	=	,,
तै० उ०	=	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै० सं०	=	तैत्तिरीयसंहिता
अ०	=	अथर्ववेद
अ० वे०	=	,,
कौ०	=	कौषीतकिब्राह्मण
म० भा०	=	महाभारत
मनु०	=	मनुस्मृति
आ०	=	आकृति

वर्णमाला

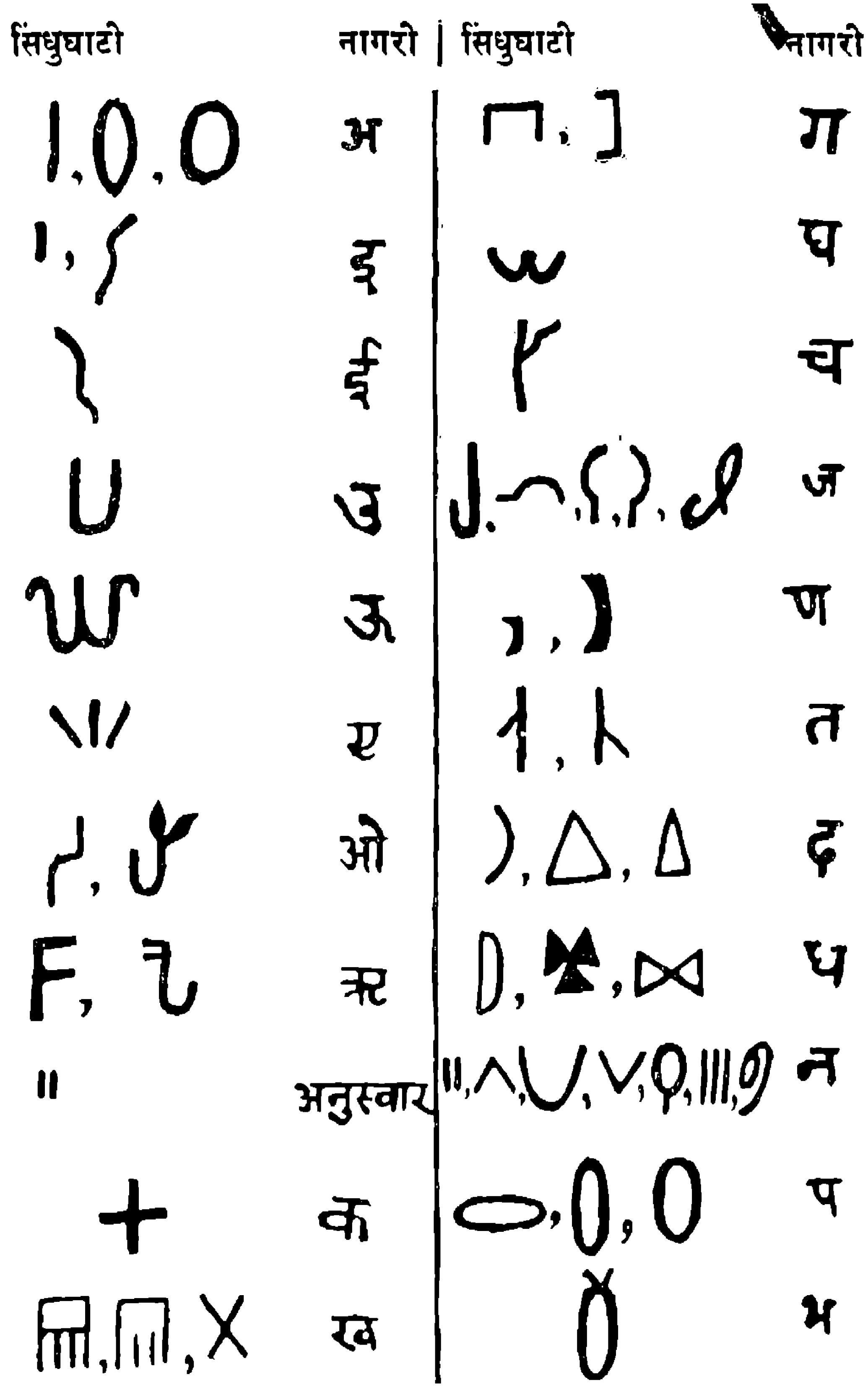

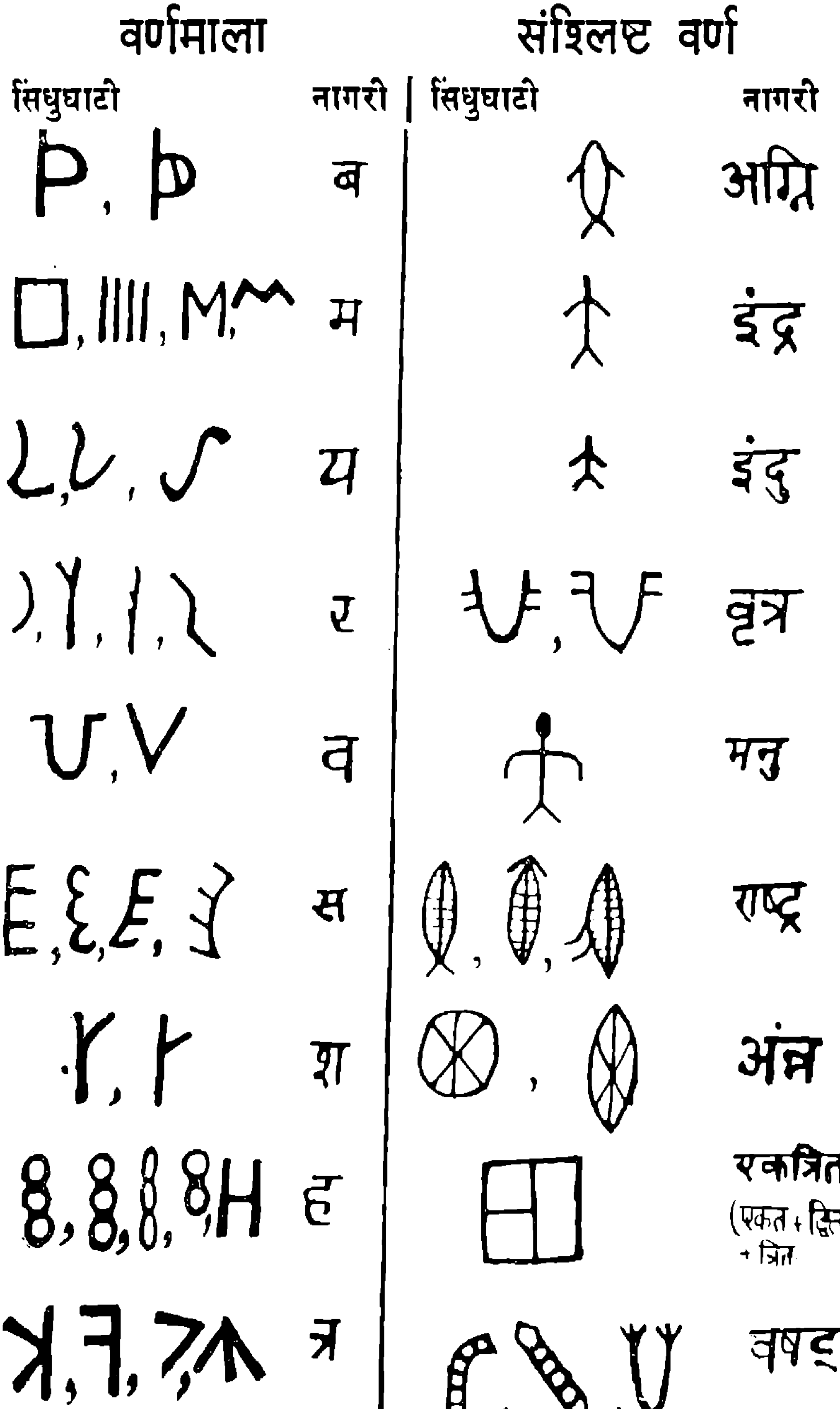
वर्णमाला
संश्लिष्ट वर्ण
सिंधुघाटी
नागरी
सिंधुघाटी
नागरी
ब
अग्नि
म
इंद्र
य
इंदु
र
वृत्र
व
मनु
स
राष्ट्र
श
अंन्न
ह
एकत्रित
(एकत + त्रित
+ त्रित
त्र
वषट्

EXCAVATIONS AT HARAPPA

Volume II

लिपि-द्वय

1. Pl. XCVII 539 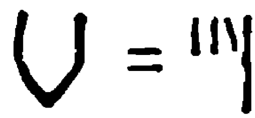

2. Pl. XCVII 517 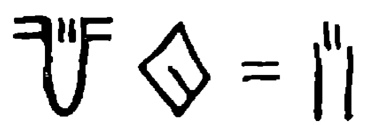

3. Pl. XCVII 502 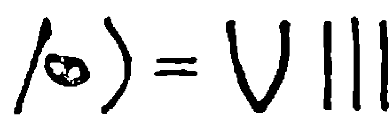

4. Pl. XCVII 505 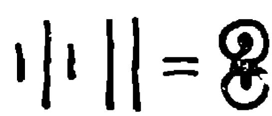

5. Pl. XCVII 506 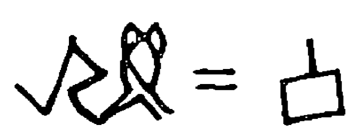

6. Pl. XCVII 551 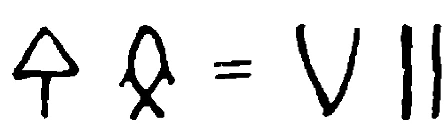

7. Pl. XCVII 499 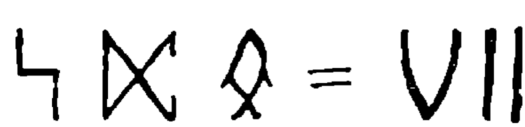

8. Pl. XCVII 501

9. Pl. XCVII 542 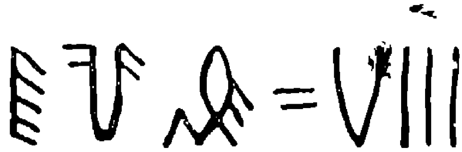

10. Pl. XCVII 543 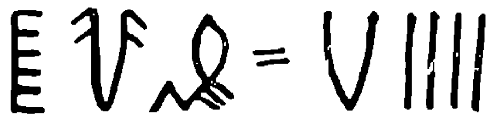

11. Pl. XCVII 521 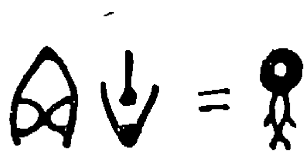

12. Pl. XCVII 545 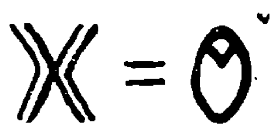

13. Pl. XCVII 546 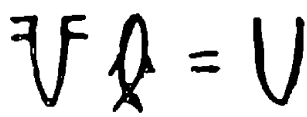

14. Pl. XCVII 518

15 Pl. XCVI 442 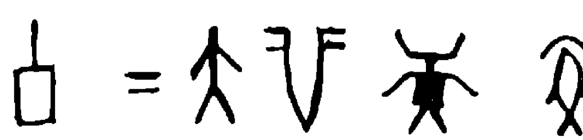

16. Pl. XCVI 443 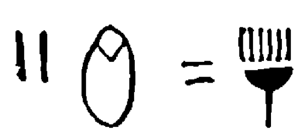

17. Pl. XCVI 489 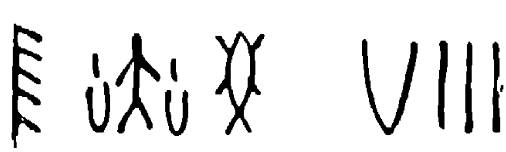

लिपि-त्रय

18. Pl. XCVII 575 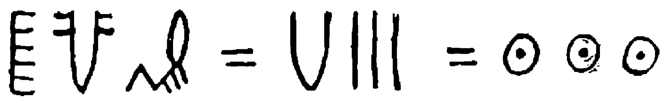

19. Pl. XCVII 580 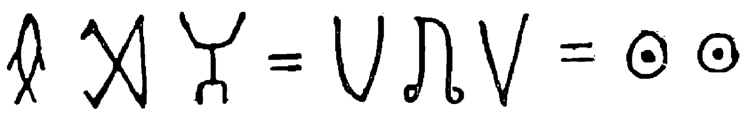

20. Pl. XCVII 573 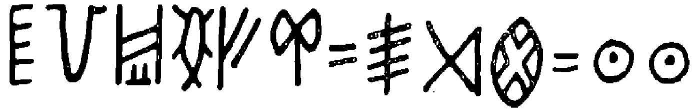

21. Pl. XCVII 576 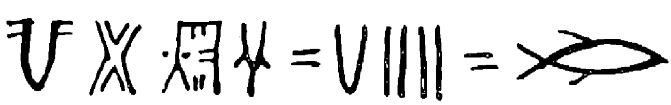

लिपि-चतुष्टय

22. Pl. XCIX 635 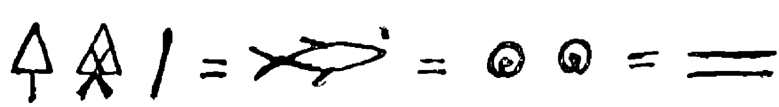

सिंधुघाटी की लिपि में
ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक

१. परिचय

आधुनिक विद्वान् प्राय: एक स्वर से सिंधुघाटी की सभ्यता को अवैदिक स्वीकार कर चुके हैं। अधिकांश इतिहासकार, उसे अविभाजित भारत की प्राचीनतम सभ्यता मानते हुये भी, अवशिष्ट भारत की सभ्यता से उसको नितांत भिन्न मानते हैं। कुछ लोग तो इस भेद पर इतना जोर देते हैं कि उनकी सम्मति में यह प्रदेश अवशिष्ट भारत के हिन्दू-साम्राज्य में चंद्रगुप्तमौर्य्य के शासन-काल को छोड़कर, और कभी भी सम्मिलित[१] नहीं हुआ। इसी आधार पर डॉ० मॉर्टीमिर ह्वीलर[२] ने पाकिस्तान की संस्कृति को पांच हजार वर्ष पुरानी बताया है और उसकी प्राचीनतम (सिंधुघाटी) सभ्यता के विध्वंसकों में उन विदेशी आर्यों की गणना की है जो आधुनिक हिंदुओं (आर्यों) के पूर्वज थे। इसी पद्धति के संदर्भ में सिंधुघाटी की लिपि को, अवशिष्ट भारत की लिपियों से विपरीत, दाहिनी से बाईं ओर को लिखा हुआ माना गया और उसका सम्बन्ध प्राय: अभारतीय लिपियों से जोड़ने का प्रयत्न किया गया[३]। इसी दिशा में चलते हुये, स्वर्गीय फादर हेरास तथा उनके शिष्यों ने सिंधुघाटी की तथाकथित अनार्य-संस्कृति के उन तत्वों को उद्घाटित किया जिन से मिलकर शाक्त, जैन, शैव, योग आदि की परम्पराओं का विकास[४] हुआ है। डॉ० कार्मारकर[५] की दृष्टि में ये सभी परम्पराएं अवैदिक व्रात्य और सम्भवत: द्रविड़ हैं, जब कि कुछ जैन-विद्वानों[६] ने इसी आधार पर, सिंधुघाटी की संस्कृति को अनार्य जैन-संस्कृति तथा उसके विध्वंसकों को बर्बर और हिंसक आर्य कहना प्रारम्भ कर दिया है।

---

(१) द्रष्टव्य—Green and Crescent in Pakistan.

(२) द्रष्टव्य—Five Thousand years of Pakistan.

(३) Marshal, Mackey and Vats in their works on Mohenjodaro and Harappa Exavacations. See also Hunter, The Script of Harppa and Mohenjodaro, and its connection with other scripts.

(४) La Religion de las proto-Indians.

(५) The Religions of India, Vol. I.

(६) Shri Ramachandra Jain.

ऐसी स्थिति में सिंधुघाटी की सभ्यता में वैदिक तत्वों को देखना सम्भवतः क्षम्य न समझा जाय, परन्तु श्री के० यन० शास्त्री[1] के शब्दों में 'हमें विदेशियों द्वारा गढ़ी हुई प्रत्येक बात को स्वीकार कर लेना उचित नहीं। हमारे स्वतन्त्र विचार होने चाहियें और दूसरों के मतों को स्वतन्त्र साक्ष्य की कसौटी पर कसने की क्षमता होनी चाहिये।' श्रीशास्त्री का यह कथन सिंधुघाटी-सभ्यता के संदर्भ में बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि इस विषय में अनेक ऐसे पूर्वाग्रहों की सृष्टि हो चुकी है जो हमें यह मानने को विवश करते हैं कि भारतीय संस्कृति के सभी प्रमुख तत्त्व तथा उनके स्रष्टा भारत के बाहर से आये। इसी के साथ वर्तमान युग की यह धारणा भी उक्त संस्कृति के मूल्यांकन में बाधक हुई है कि विज्ञानके समान ही, दर्शन तथा अध्यात्म के क्षेत्र में भी, मानव उत्तरोत्तर उन्नति करता चला आया है और प्राचीन युग में सर्वत्र और सर्वदा उसका धर्म एवं दर्शन जादू-टोना तथा अन्ध-विश्वास मात्र था। पिछले तीस वर्षों में अधिकांश समय मैंने इन्हीं पूर्वाग्रहों के वशीभूत होकर सिन्धुघाटी-सभ्यता का मूल, भारत से बाहर, खोजने का प्रयत्न किया, परन्तु अंत में सब प्रयत्नों का परिणाम यही निकला कि इन पूर्वाग्रहों से मुक्त हुए बिना सिन्धुघाटी-सभ्यता का स्रोत जानना सम्भव नहीं।

सिंधुघाटी की लिपि

इसमें सन्देह नहीं कि सिन्धुघाटी-सभ्यता का रहस्य उसके मुद्रा-चित्रों पर अङ्कित लिपि में छिपा हुआ है। इस लिपि को फादर हेरास, डॉ० प्राणनाथ, स्वामी शङ्करानन्द, राजमोहननाथ तथा सबसे अधिक श्री सुधांशुकुमार रे ने पढ़ने का दावा किया है, परन्तु अभी तक इनके प्रयत्नों का कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकल सका है। उदाहरण के लिए एक विद्वान् के अनुसार, मोहेनजोदरो के एक[2] मुद्राचित्र पर पशु की आकृति के ऊपर 'खांसने वाला इकसिंगा' लिखा है, जब कि मेरी सम्मति में वहाँ 'अत्रि अग्निमान अन' शब्द हैं जिनमें से प्रत्येक को वैदिक दर्शन का पारिभाषिक शब्द माना जा सकता है। प्रायः विद्वान् लोग यह मान कर चले हैं कि सिन्धुघाटी के मुद्राचित्रों पर एक ही लिपि प्रयुक्त हुई है, परन्तु मुझे अभी तक चार लिपियों का पता चल चुका है जिनमें से

(१) New Light on Indus civilization, Vol. 1. p. 5.

(२) द्रष्टव्य-M. I. C. seal No. 19 Sudhanshu Kumar Ray Memorandum No. 1 Indus Script.

तीन निस्सन्देह बाईं से दाहिनी ओर को लिखी जाती थीं[1] और सम्भवत: एक को दाहिनो ओर से बाईं ओर को लिखा[2] जाता होगा। यद्यपि अभी तक सभी मुद्रा-चित्रों एवं लेखों का अनुवाद सम्भव नहीं हो सका है, परन्तु अभी तक जो कुछ भी पढ़ने में सफलता मिली है उससे इतना स्पष्ट है कि सिन्धुघाटी-सभ्यता में ब्राह्मण-ग्रथों और उपनिषदों के प्रतीक प्रचुरता से उपलब्ध हैं। ये प्रतीक न केवल हड़प्पा से प्राप्त मुद्राचित्रों में पाए गए हैं, अपितु इनका अस्तित्व उन मुद्रा-चित्रों पर भी पाया जाता है जो मोहेनजोदरो की निम्नतर एवं निम्नतम स्तर की गहराई पर पाए गए हैं। इसके अतिरिक्त इनके लेखों की विशेषता यह है कि अभी तक मुझे ऐसा कोई लेख नहीं मिला जो किसी न किसी दार्शनिक अथवा धार्मिक तत्त्व की ओर संकेत न करता हो। भविष्य के अनुसन्धान का क्या परिणाम हो ? इस पर अभी कुछ कहना कठिन है, परन्तु अब तक की उप-लब्धियों के आधार पर मुझे सिन्धुघाटी-सभ्यता ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों के समय की प्रतीत होती है।

यह निष्कर्ष निस्सन्देह भारतीय इतिहास की कई मान्यताओं को धराशायी करता है। मोहेनजोदरो और हड़प्पा के लेखों में अग्नि, इंद्र, इदु, वृत्र, वरुण, अज, अजा, श्येन, उमा, उषा, उखा, क, अन, अप आदि शब्दों का उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होना जिनमें वे ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में होते हैं, सिन्धुघाटी की सभ्यता को उत्तरवैदिक काल का सिद्ध करता है। इसके फलस्वरूप एक ओर तो संहिताकाल को ईसा से हजारों वर्ष पूर्व सरकाना पड़ता है और दूसरी ओर वैदिक लोगों के आदि देश की समस्या पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता पड़ जाती है। सिन्धुघाटी के लेखों से तद्वनं, वषट्, प्रणव आदि शब्दों की व्युत्पत्तियों पर तथा ब्राह्मणग्रंथों में प्राप्त विचित्र समीकरणों अथवा पर्याय-योज-नाओं पर जो नवीन प्रकाश पड़ता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भारतीय योग, मन्त्र, तन्त्र, आगम, पुराण, शैवमत, शाक्तमत आदि का स्वाभाविक सम्बन्ध वैदिक परम्परा से जुड़ा हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि मेरे इन निष्कर्षों के विरोध में विद्वानों ने पहिले से ही अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर रक्खे हैं, परन्तु मेरा अनुमान है कि जैसे-जैसे 'स्वाहा' में सिन्धुघाटी के मुद्राचित्रों एवं लेखों की व्याख्या क्रमश: निकलती जाएगी वैसे-वैसे वे प्रमाण निराधार सिद्ध होते

(१) देखिए लिपिद्वय पटल १ तथा लिपित्रय पटल २।
(२) देखिए लिपित्रय पटल ३।

जायेंगे। यह कार्य अवश्य बहुत समयसाध्य है, परन्तु इसके अभाव में समस्या का कोई निर्णायक हल निकलना सम्भव नहीं।

सिंधुघाटी का अवर्ण

आज से लगभग २६ वर्ष पूर्व इंदौर की 'वीणा' में और पुनः इसके लगभग १५ वर्ष बाद लखनऊ की 'त्रिपथगा' में मैंने इस प्रचलित मत का खंडन किया था कि वह हमारी प्राचीन लिपियों का विकास किसी चित्र-लिपि से हुआ है। कुछ उदाहरण देकर, वहाँ इस मत का प्रतिपादन किया गया था कि योरोप और एशिया की अधिकांश लिपियों का मूलाधार सामान्यतः उच्चारण में प्रयुक्त अंगों की आकृति-विशेष है जो किसी ध्वनि-विशेष के उच्चारण करने में मुख के भीतर या बाहर बन जाती थी। इस प्रसंग में, विभिन्न लिपियों के अवर्णों की समीक्षा करते हुये, वहाँ यह निष्कर्ष निकला था कि मूलतः दो प्रकार के अवर्ण प्रचलित थे—एक फारसी लिपि के अलिफ की तरह दंडाकार और दूसरा दो वक्र रेखाओं से निर्मित फारसी ऐन अथवा ब्राह्मी अकार के समान। सिंधुघाटी के अकार के विषय में भी यह बात खरी उतरती है। वहाँ दण्डाकार अवर्ण तो प्रचलित है ही, परन्तु उसके साथ ही वक्र रेखाओं से निर्मित अकार या तो लंबे खरबूजे की खड़ी आकृति का है अथवा वृत्ताकार हो गया है।

तीनों प्रकार के अवर्ण सिंधुघाटी में एक प्रतीक-परंपरा से संबंध रखते प्रतीत होते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् (४, १, ३) के अनुसार निर्गुण आत्मा की पुरुषरूप में कल्पना की गई है जो सगुण होने पर क्रमशः (१) अहंनाम (२) आलिंगनबद्ध स्त्री-पुरुषसदृश तथा (३) दो पृथक् खंडों, पति और पत्नी से अनेक प्रजाओं की सृष्टि है। सिंधुघाटी में इनमें से प्रथम का प्रतीक दण्डाकार, दूसरे का खरबूजाकार तथा तीसरे का वृत्ताकार अ माना गया प्रतीत होता है। अतः प्रथम रूप में वह दंडधारी पुरुष है और दूसरे में उसके पास खरबूजाकार अवर्ण तथा तीसरे में वह वृत्ताकार अवर्ण से संयुक्त दिखाया जाता[1] है। श्वेताश्वतर[2]-उपनिषद् (४,३) का कथन है कि वह दण्डधारी होने से यद्यपि जीर्ण होने का भ्रम उत्पन्न करता है, परन्तु वस्तुतः इसके भीतर (द्वितीय अवस्था के)

---

(१) द्रष्टव्य-द्वितीय पटल।

(२) त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः। (श्वे० उ० ४,३)

स्त्री-पुरुष, कुमार-कुमारी का द्वैत बीजरूप में विद्यमान है और इसीलिये वह (तृतीय अवस्था में) जन्म लेते ही 'विश्वतोमुख' (नानारूप) हो जाता है। इससे पूर्व एक अन्य श्लोक[१] में उक्त तीनों अवस्थाओं को क्रमशः (१) अवर्ण (२) निहितार्थ अवर्ण तथा (३) अनेकवर्ण कहा गया है। इस प्रकार जब एक अवर्ण को 'निहितार्थ' होकर अनेकवर्णों के रूप में परिणत होने वाला कहा जाता है, तो वर्णमाला के रूपक द्वारा एक आत्मा में विश्व के समस्त नानात्व की सृष्टि का ही वर्णन अभीष्ट होता[२] है।

सिंधुघाटी की भाषा में इस नानात्वमयी विश्वसृष्टि को 'नामरूप'[३] कहा गया है और इसके प्रतीकस्वरूप दो दण्डाकार अवर्णों का प्रयोग होता है, क्यों कि यह नामरूप 'अन' और 'अन्न' नामक दो तत्वों का ही संयुक्त[४] रूप है। छान्दोग्य-उपनिषद्[५] की भाषा में यह 'अन' ही वैश्वानर आत्मा (प्राण) है जो सभी लोकों, सभी भूतों और सभी आत्माओं में अन्न खाता है। इस विश्व में सर्वत्र प्राण (अन) अन्न के द्वारा गृहीत[६] है, अन्न ही आयतन[७] है, अन्न ही सब जीवों का शरीर[८] है जिसमें 'अन' नामक भूमा (श० १,१, २,६) निवास करता है। यह 'अन' ही शतपथ-ब्राह्मण के शब्दों में अन्नाद[९] अग्नि है जिसे कभी-कभी 'अत्ता' या 'अत्रि' भी कहा जाता है (श० १०,६,२,२-४)। सिन्धुघाटी में इस अन्नगृहीत विश्वात्मा 'अन' को इंद्र-नाम भी दिया गया है और हडप्पा से प्राप्त एक लेख[१०] में 'इंद्र' शब्द को इस तरह से लिखा गया है कि एक पुरुष की आकृति बन गई है जिसके एक हाथ में 'प' वर्ण है और दूसरे में 'उ' वर्ण। यह प-वर्ण आत्मा को उस

(१) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ।। (श्वे० उ० ४,१)

(२) द्रष्टव्य-श्वे० उ० ४, २-४।

(३) MS. Exavations at Harappa, plate XCVII, seal 532

(४) वही seal 505. तु०क०–छा०उ० ५,२, १-२।

(५) स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु आत्मसु अन्नमत्ति (५,१८,१)

(६) अन्नमेव ग्रहः। अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम् (श०, ४,६,५,४) तु०क०–७,५,१,१६; ७,५,१,२०।

(७) अन्नं वाऽआयतनम (श० ६.२,१,१४)

(८) अन्नं वै सर्वेषां भूतानामात्मा (गो०उ० १,३)

(९) अन्नादोऽग्निः (श० २, १,४,२८; २,२,४,१)

(१०) MS. EX.H., seal 599

'परा' शक्ति का द्योतक है जिसे उसकी 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया' कहा गया है (श्वे०उ० ६,८) और जिसके संयोग से ही वह आत्मा 'अन' तथा 'अन्न' को संयुक्त सृष्टि बनता है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए हडप्पा के उक्त लेख में इंद्र के पवर्णधारी हाथ के पास दो दंडाकार अवर्ण बनाए गये हैं जिन्हें ऊपर 'अन' और 'अन्न' का प्रतीक बताया गया है। मानों इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये उक्त दो दण्डाकार अवर्णों के पूर्व 'अन्नामो' समस्तपद लिखकर बतला दिया गया है कि ये दोनों दण्डाकार अवर्ण क्रमश: 'अन्न' तथा 'अम' (ज्येष्ठ प्राण[१]) के प्रतीक हैं। इसके विपरीत इंद्र के उवर्णधारी हाथ के पास भी 'अन्न' शब्द लिखा है, परन्तु यह 'अन्न' प्रथम अन्न से भिन्न है, क्यों कि प्रथम में खरबूजाकार अवर्ण है जब कि दूसरे में दंडाकार अवर्ण। उवर्ण[२] सिंधुघाटी एवं वैदिक परंपरा में समान रूप से ज्योति का प्रतीक है; अत: उसका संबंध एक दण्डाकार अवर्ण वाले सूक्ष्म अन्न से है, जब कि पहले का संबंध खरबूजाकार अवर्णवाले स्थूल अन्न से है। इस प्रकार सिंधुघाटी के लेखों में एक दार्शनिक परंपरा है जो विश्व की सृष्टि को अभिव्यक्त करती है।

यह दार्शनिक परम्परा दंडाकार अवर्ण के अतिरिक्त सम्पुटाकार प-वर्ण से प्रारम्भ होती है। सिन्धुघाटी के एक त्रिवृत मुद्रा[३]-चित्र में एक ओर एक पुरुष को एक पैर की एड़ी पर बैठ कर वीरासन लगाए और हाथ में दंडाकार अवर्ण को लिए हुए दिखाया गया है और इसके सामने एक स्त्री झुकी हुई प-वर्ण को दोनों हाथों से उठाए हुए है। इस अवर्ण की तुलना श्वेताश्वतर-उपनिषद् के निर्गुण ब्रह्मरूपी अवर्ण से की जा सकती है जो 'शक्ति' के योग से अनेक वर्णों (नामरूप) को धारण करता[४] है और पवर्ण निस्सन्देह उस परा का पहला वर्ण है जो उस अवर्ण की शक्ति का नाम[५] है। प-वर्ण की कुछ ढली[६] हुई या पत्थर आदि

(१) तु०क०—अमो नामासि अमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः(छा०५,६-७) और M E.H. की plate XCVII 442 तथा 474 जहां क्रमश: अम और अमा शब्दों की व्याख्या है।

(२) MEH. plate XCVII, seal 539 में 'उ' को मा कहा गया है।

(३) Mackey, Further Exavacations at Mohenjodaro, plate XC, 9; 10; 11 etc.

(४) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति (श्वे० उ०, ४, १)

(५) पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वे० उ०, ६, ८)

(६) Mackey further Exavacations at Mohenjodaro, plate xc. 9,10 ;11

की आकृतियां भी मोहेनजोदरो से प्राप्त हुई हैं, इनमें से कुछ आकृतियों के एक पहल पर 'न' वर्ण बना हुआ है । प-वर्ण से 'अ' का संयोग होने से 'अप' शब्द बनता है जिसका अर्थ वैदिक भाषा में 'कर्म' और 'जल' है; इसी प्रकार 'न' वर्ण के साथ 'अ' वर्ण का संयोग होने से 'अन' शब्द बनता है जो उपनिषद् की भाषा में प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान में व्याप्त 'अन' है और मूल या पूर्ण (भूमा) प्राण[१] का द्योतक है । ब्राह्मणों में अन-शब्द यज्ञ[२] का भी वाचक माना गया है और सिंधुघाटी[३]-परम्परा में दो 'अप' के साथ 'अन' मिलने से यज्ञ का उद्भव माना गया प्रतीत होता है । प-वर्ण की आकृति के एक पहलू पर कभी-कभी ज-वर्ण और दूसरे पर न-वर्ण बना मिलता है जिससे 'यज्ञ' शब्द की उस व्युत्पत्ति[४] की याद आ जाती है जिसके अनुसार उसे 'जन्' धातु से निष्पन्न माना जाता है । वैसे एक से अनेकता में परिणत होना अथवा प्रजापति[५] का अनेक प्रजाओं के रूप में हो जाना यज्ञ है । अस्तु, एक अ-वर्ण द्वारा परा-शक्ति के संयोग से प्राण (अन), कर्म (अप) तथा यज्ञ के अंतर्गत आने वाला प्रसार (या सन्तान) सिन्धुघाटी और उपनिषत्-परम्पराओं में सामान्य रूप से मान्य प्रतीत होता है ।

सिन्धुघाटी के जिस चित्र में उक्त पुरुष और प्रकृति के क्रमशः 'अ' और 'प' वर्ण का उल्लेख किया गया है उसमें स्त्री के पीछे 'उ' वर्ण रखखा हुआ है और उसके पास ही एक पुरुष खड़ा हुआ है। निस्संदेह यह 'उ' वर्ण स्वयं उस 'प' वर्ण का ही अर्द्धांश है जो उक्त अ-वर्ण के संपर्क में आने पर द्विधा विभक्त होकर दो उकारों की सृष्टि कर देता है; इन दोनों के अतिरिक्त इन दोनों उकारों का एक संयुक्त रूप भी सिंधुघाटी में माना गया है जो उक्त दंडाकार

(१) भूमा वा अनः (श० १, १, २, ६) M.F.E. Plate xc. 9 में प-वर्ण के पार्श्व को तोड़ कर जो हठात् अ-वर्ण को डालने का प्रयत्न किया गया है वह भ्रामक है, वस्तुतः प-वर्ण की आकृति ठीक मुद्रा ११ के समान है ।

(२) यज्ञो वा अनः (श० १, १, २, ७; ३, ६, ३, ३)

(३) M. F. E. M. plate xc, 15 a–b जहां दो संयुक्त 'अप' के पास 'अन' शब्द बना कर पास में यज्ञ लिखा है ।

(४) स तायमानो जायते स यज्जायते तस्माद्यज्जो यज्ञो ह वै नामैतद्यज्ञ इति ।
(श० ३, ६, ४, २३)

(५) गो० उ० २, १८; तै० १, ३, १०, १०; ऐ० २, १७ इत्यादि ।

अ-वर्ण के ऊपर रक्खा हुआ, अन्य उकारद्वय के साथ दिखाया जाता[१] है। ब्राह्मण[२]-ग्रन्थों में 'उ' (उक्) अग्नि, आदित्य तथा प्राणनामक ज्योतियों के नाम हैं; इन्हीं को बृहदारण्यक-उपनिषद्[३] में क्रमशः वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय पुरुष अथवा अग्नि, आदित्य और इंद्र भी कहा गया है। सम्भवतः उकार-सर्जन के प्रसंग में अ-वर्ण (निष्कल ब्रह्म) को उक्त पराशक्ति का नाम सिन्धुघाटी में 'उमा'[४] माना गया है, इसीलिए एक मुद्राचित्र[५] में इंद्र के साथ उमा भी लिखा है और एक पुरुष एक वृक्ष को एक 'उकार' प्रदान कर रहा है।

सिन्धुघाटी का यह वृक्ष निःस्सन्देह मानव-शरीर है जिसे बृहदारण्यक-३, ९, २८ में स्पष्टतः सांगोपांग वृक्षरूप में वर्णित किया गया है। मोहेनजोदरो के एक मुद्राचित्र[६] में मानव-शरीर को प्राणवृक्ष के रूप में दिखाया गया है जिसका तना विशाल दण्डाकार अवर्ण है और उसकी प्रत्येक पत्ती की आकृति इस प्रकार बनाई है कि 'अन' शब्द लिख जाता है। इस वृक्ष पर भी एक पुरुष अपनी एडी पर वीरासन जमाए हुए हाथ से नीचे खड़े व्याघ्र को उकार भेंट कर रहा है। मानव-शरीररूपी वृक्ष में उपर्युक्त तीन पुरुष अग्नि, आदित्य(वायु) इंद्र (अथवा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय) हैं जिनमें से प्रथम दो क्रमशः तृतीय के कर्ता एवं ज्ञात-रूप के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों में कभी-कभी संघर्ष भी सभव है; अतः उक्त इंद्र-उमा वाले वृक्ष[७] के पास दो पुरुष लड़ने पर तुले हैं और उनके हाथों में जो शस्त्ररूपी वृक्ष-शाखा है उसकी पाँच-पाँच पत्तियाँ क्रमशः पच कर्मेन्द्रियों और पंच ज्ञानेन्द्रियों की प्रतीक हैं। इन दोनों के बीच में खड़ी बीच-बचाव करने वाली देवी संभवतः उमा-शक्ति है और वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ तृतीय पुरुष (इन्द्र) व्याघ्र को जिस आकृति के पास जाने से रोक रहा है वह दो अक्षरों का 'वन' शब्द बनाती है।

सिंधुघाटी के इस 'वन' की तुलना केनोपनिषद्[८] के 'तद्वनं' से की जा

---

(१) M.F.EM., plate XC, seal 13. a.

(२) श० १०,३,१,४;१०,६,२,८-९;१०,६,२,१०;१०,४,१,२३।

(३) बृ०उ० १,५,३-१३।

(४) उं निर्माति इति उमा; तु० क०—इन्द्र तथा उमा हैमवती के० उ० ३, १२।

(५) M. F. E. M. plate XC, seal 23-a.

(६) वही, plate XC, VI, seal 522.

(७) M.F.E.M. plate XC, seal 23 b a, 24 b.

(८) तद् ह. तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् (के. उ०४, ६)

सकती है जो अग्नि, वायु तथा इंद्र के अतिरिक्त एक चतुर्थ पुरुष है और जिसको इंद्र ही उमा की सहायता से जानता[1] है। सिंधुघाटी के चित्र में भी इंद्र तथा उमा का एक साथ आना इस निष्कर्ष की पुष्टि करता है कि इस चित्र का 'वन' और उपनिषद् का 'तद्वनं' उस तुरीय ब्रह्म के प्रतीक हैं जिसकी शक्ति से उक्त तीनों पुरुष शक्तिमान् हैं और जो संभवत: शरीररूपी वृक्ष का व्यापक मूलाधार माना जाता था। जैसा कि आगे देखेंगे, सिंधुघाटी के मुद्राचित्रों में 'व' वर्ण वरुण का बोधक होता है; और उसमें उपर्युक्त 'अन' और 'अप' दोनों का संयोग[2] अभीष्ट है। वैदिक संस्कृत में 'अप' का अर्थ जल भी होता है, अत: वरुण का सम्बन्ध जल से भी माना जाता है। यहाँ वन-रूप वरुण का शत्रु बन कर जो व्याघ्र[3] उपस्थित है वह वस्तुत: वृत्र है जिसे वैदिक साहित्य में जल (आप:) को आवृत करने वाला कहा जाता है। उसके विपरीत एक अन्य मुद्राचित्र[4] में 'वन' की अ-वर्णरूपी दो पत्तियों को तोड़ कर एक को मुंह में दबाये और एक को पृथ्वी पर गिराये हुये जो पशु दिखाया गया है उसके ऊपर 'वृत्र वषट्' लिखा हुआ है। इसका अभिप्राय है कि यह ऐसा 'वृत्र' है जो 'वषट्' बन चुका है और वषट् का अर्थ है (जैसा कि आगे देखेंगे) कि जो छ: देव वृत्र के आधिपत्य में थे वे अब वरुण के आधिपत्य में आने से 'वषट्' कहे जाते हैं। इसी कल्पना को एक दूसरे ढंग से एक अन्य मुद्राचित्र[5] में मूर्तिमान् किया गया है। यहाँ पर एक वृक्ष के ऊपर एक स्त्री-पुरुष के जोड़े की धूमिल आकृतियाँ हैं और नीचे एक ओर एक व्याघ्र है तथा दूसरी ओर एक सर्प है एवं इन दोनों वृत्रों[6] के बीच में उपर्युक्त दो पृथक् उकार, एक संयुक्त उकारसहित दंड तथा एक पृथक् दंडाकार अ-वर्ण है। इसी चित्र के दूसरी ओर तीन पशु हैं जो क्रमश:

(१) वही, ३,१-१२ ; ४,१-३।

(२) तु. क० M.F. E. M., Plate CI, seal 15 जिसके एक भाग में एक ओर 'मन' और 'व (वरुण) अप' लिखा है तथा इन दोनों के बीच में मानव-हृदय की आकृति है; दूसरे भाग में एक ओर हृदय की आकृति है और दूसरी ओर एक चतुर्भुज के भीतर चतुर्दिक् अनेक स्थानों पर 'अन' लिखा है एवं बीच में वरुण-सूचक व-वर्ण के साथ 'अत्रि' लिखा है।

(३) द्रष्टव्य Plate CX, 23-b; 24-b; 13-a; plate XCVI, seal 522 etc.

(४) M. I. C. Plate CXII, seal 385 (आ० ७)

(५) M.F.E M., Plate XC, 13-a and 13-b (आ० २)

(६) इन दोनों में से प्रत्येक द्विविध होता हुआ माना गया है। इसीलिये, अन्य कई मुद्राचित्रों में दो व्याघ्र अथवा दो सर्प दिखाई पड़ते हैं।

गेंडा, हाथी और अश्व प्रतीत होते हैं। इन दोनों चित्रों में दंडाकार अ-वर्ण के पास जो उकार-युक्त तीन आकृतियाँ दिखाई गई हैं वे निस्संदेह उपर्युक्त वही तीन पुरुष हैं जिन्हें वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय (अथवा अग्नि, वायु-आदित्य और (इन्द्र) कहा गया है और जो अवर्णरूपी तुरीय-ब्रह्म से उद्भूत हैं; इसके साथ ही वृक्ष पर स्थित स्त्री-पुरुष उसी 'वनं' या वरुण के प्रतीक प्रतीत होते हैं जिसको ऊपर 'अन' तथा 'अप' का संयुक्त रूप बताया गया है। यहां पर सभी पशु (हिंसक भी) अहिंसा के वातावरण को उपस्थित करते हुये वृत्र-प्रधान न होकर वरुण-प्रधान प्रतीत होने से वषट्' की स्थिति में उपर्युक्त अवर्णाकार पत्तियाँ खाने वाले पशु की तरह ही प्रतीत होते हैं।

वरुण और वृत्र

सिंधुघाटी के वरुण और वृत्र का उक्त संबन्ध ब्राह्मण-ग्रंथों की मान्यता के प्रतिकूल नहीं है। वरुण[1] और वृत्र[2] एक ही धातु से बने हुये दो शब्द हैं जिनमें से प्रत्येक का अर्थ है 'आवृत करने वाला'; ये दोनों वस्तुतः एक ही 'परा'-शक्ति के दो रूपांतर हैं जिनमें से एक को प्रकाशमय आवरण तथा दूसरे को अंधकारमय आवरण कहा जा सकता है। अतः वरुण को उषा-रूपी तीर के पंख (पर्णानि) कहा गया है (ऐ०ब्रा० १,२५), और वृत्र को अंजन (श० ३, १,३, १५); एक प्रदीप्ततर[3] अथवा घोरसंस्पर्श[4] अग्नि है, तो दूसरा पत्थर (अश्मानः[5]) विश्वसृष्टि के लिये वरुण जितना उपयोगी है, उतना ही वृत्र भी; इसीलिये इन्द्र उसका वध कर के भी उसे सौम्य और असुर्य्य-रूपों में जीवित रख कर उसका उपयोग करता[6] है। वरुण यदि प्रदीप्ततर अग्नि के रूप में बाहर प्रकाश और गर्मी देता है, तो वृत्र[7] भी जठराग्नि के रूप में विराजमान हमारे खाये हुये

---

(१) यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत्तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण (गो०पू० १, ७)

(२) वृत्रोऽवा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये'''तस्माद् वृत्रो नाम (श०१,१,३,४)

(३) अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुणः (श०२,३,२,१०)

(४) स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम् (ऐ०३,४)

(५) श०३,४,३,१३;३,६,४,२;४,२,५, १५।

(६) तं द्वेधान्वभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्य्यमास तेनेमा प्रजा उदरेणाविध्यत (श. १, ६,३,१७)

(७) यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्मा एवैतद वृत्रायोदराय बलि हरन्ति (श. १,६,३,१७)

भोजन को हजम करता है। अतः अन्नाद अग्नि वस्तुतः वृत्र[1] ही है और वही है सोम जो देवों का अन्न कहा जाता है[2]। अतः ब्राह्मण-ग्रंथों में 'वृत्र' देवों का शाश्वत शत्रु नहीं है; वह जब देवों के प्रति विद्रोही होकर 'आपः' और प्रकाश को सर्वथा आवृत करके उनके अस्तित्व को ही खतरे मे डाल देता है, तभी वध्य होता है; परन्तु उसके वध से अभिप्राय केवल उसके रूपान्तरण करने—शत्रु से दास अथवा उपयोगी साधन बनाने से है। इसलिये वृत्रवध ध्वंसात्मक क्रिया न होकर सर्जनात्मक क्रिया है जिसके द्वारा इन्द्र विश्वकर्मा प्रजापति कहलाने का अधिकारी होता है:—

इन्द्रो ह वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत्प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत् (ऐ०ब्रा०४,२२)

अतः वृत्रवध वस्तुतः वृत्र-सहयोग है जिसमें वृत्र-विरोध छोड़कर उपयोगी दास अथवा सृजनात्मक शक्ति में परिणत हो जाता है। यही माया[3], मात्रा, मातली है जिसकी 'मा' धातु-निर्माण की सूचक होकर सिधुघाटी में ऐसे वृत्र-प्रतीकों के साथ प्रयुक्त होती है जो देवोपयोगी भाव व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, जो महिष अन्य स्थानों पर विध्वंस करता हुआ[4] अथवा स्वयं भाले का शिकार होता हुआ[5] दिखाया गया है, कहीं-कहीं उसी[6] के सामने एक पात्र सा रक्खा हुआ है और वह सर्वथा शान्त प्रतीत होता है तथा उसके ऊपर जो लेख है उसमें अंतिम शब्द 'मा' (अर्थात् निर्माण करने वाला) है। निर्माण अथवा सृजन का कार्य यज्ञ है; उसमें यदि वृत्र भी योग देता है तो सिन्धुघाटी-परम्परा में उसकी[7] संज्ञा 'वृत्रजश्न' अथवा 'वृत्र वषट्' हो जाती[8] है। इसके विपरीत, वरुण-क्षेत्रीय (देवत्वप्रधान) प्रतीक भी यज्ञ-विरोधी भावना का समावेश करने पर ओंकार अथवा यज्ञ के शत्रु समझे जाते हैं। उदाहरणस्वरूप मोहेन-

(१) स यो हैवमेतं वृत्रमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति (श. १, ६, ३, १७)
(२) वृत्रो वै सोम आसीत् (श. ३. ४, ३, १३; ३, ९, ४, २; ४, २, ५, १५)
(३) द्रष्टव्य—डा० फतहसिंहकृत वैदिक दर्शन (लोडर प्रेस प्रयाग) पृ० १५५।
(४) द्रष्टव्य—आ० ४५।
(५) द्रष्टव्य—आ० ४८।
(६) द्रष्टव्य—आ० ४६।
(७) M.I.C. Pl. CX, 279.
(८) आ० ७।

जो-दरो से प्राप्त एक ताम्रमुद्रा[१] को ले सकते हैं जिसमें एक मेष से एक 'ऊं' बाहर निकल कर भागता हुआ दिखाया गया है और दूसरा उकार (ह्रस्व) उस मेष के शिर के ऊपर कुछ अलग सा प्रतीत होता है; इस मुद्रा पर लिखे हुए वृत्र-शब्द के साथ तीनों प्रकार के अकारों द्वारा 'अन' शब्द तीन वार लिखा गया प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय है कि यह मेष मानव-व्यक्तित्व की उस स्थिति का प्रतीक है जिसमें वह तीन अकारों द्वारा अभिप्रेत तीनों स्तरों पर वृत्रत्व स्वीकार कर चुका है। इसी प्रकार अन्यत्र 'वृत्रप्राण अ'[२] तथा 'वृत्र-पंचमना उष्ट्रमान'[३] शीर्षक वाले ताम्र-मुद्राचित्रों का विषय भी वृत्र-प्रधान प्रतीत होता है।

दक्षिणावर्त और वामावर्त

वरुणत्व और वृत्रत्व की प्रधानता को व्यक्त करने के लिये, सिंधुघाटी के पशुप्रतीकों का मुख क्रमशः दक्षिणावर्त तथा वामावर्त[४] कर दिया जाता है। इस नियम का पालन यहाँ तक किया गया है कि जिस चित्र में वृत्रत्वप्रधान प्रतीक को आवश्यकतावश दाहिनी ओर जाता हुआ दिखाया जाता है, उसमें भी उसका मुख अवश्य ही बाईं ओर मोड़ दिया जाता है। इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उन मुद्राचित्रों में प्राप्त होते हैं जिनमें वृत्रप्रतीक चीता[५] शरीररूपी-वृक्ष के अधिष्ठाता पुरुष के साथ चित्रित किया जाता है। यह चीता शरीररूपी वृक्ष से अन (प्राण) और अन्न की चोरी करने का प्रयत्न करता है और उसका अधिष्ठाता आत्मा 'अन' और 'अन्न' की रक्षा करता है; इस प्रसंग में एक लेख (अनान्नस्तेन नमति[६]) के अनुसार चीते को झुकना पड़ता है और संभवतः उसके झुकने पर, एक अन्य लेख के अनुसार संभवतः उसका 'वृत्रअन्न' तथा 'वृत्रमन' सब बाहर निकाला जाता[७] है और अन्ततोगत्वा वह पराशक्ति के सूचक प-वर्ण के पास आकर पूर्णतया दक्षिणावर्त होकर शान्त[८] हो जाता है। इसी प्रकार

(१) M.I.C. Pl. CXVII, 2.
(२) M.I C. Pl. CXVII, 1.
(३) वही Pl. CXVII, 3.
(४) M I C. Pl. CXVII, 1-3; Pl. CX, 304.
(५) M.I.C., Pl. CXI, Pl. CXI, 341; 353; 355; 357; Pl. CXI, 352.
(६) M.I.C. Plate CXI, 357.
(७) M.I.C. Pl. CXI, 355 जहाँ वृक्ष पर बैठा हुआ एक पुरुष है और उसकी ओर मुख किये हुये शान्त चीते के शिर पर 'वृत्र अन्न मन' शब्द लिखे हुये हैं।
(८) M.F.E.M, Pl. XCVI, 518.

वृत्रत्व का एक अन्य प्रतीक महिष है जो अपने वामावर्त[1] रूप में नरसंहार करता है, परन्तु दक्षिणावर्त रूप में शान्त दिखाई पड़ता है और उसके सामने एक वरुणसूचक वकार की आकृति का पात्र होता है जिसे 'वरुणपात्र' कह सकते हैं।

स्वस्तिकद्वय तथा क्रॉस

वरुणत्व और वृत्रत्व की कल्पना का एक दूसरा रूप सिंधुघाटी में प्राप्त स्वस्तिक के क्रमश: दक्षिणावर्त तथा वामावर्त रूपों में देखा जा सकता है। मोहेनजोदरो और हड़प्पा में दोनों प्रकार के स्वस्तिकों के चित्र अनेक मुद्राओं[2] पर पृथक्-पृथक् मिले हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर इकट्ठे ४ वामावर्त[3] तथा दूसरी पर ५ दक्षिणावर्त[4] स्वस्तिक हैं। ५ दक्षिणावर्त स्वस्तिकों के साथ 'वृत्र अनान्न अ-वर्णत्रय' (खरबूजाकार) लिखा है और साथ में एक वामावर्त चीते को प-वर्ण भेंट करता हुआ एक पुरुष बना है जिससे संकेत मिलता है कि अन और अन्न तथा अ-वर्णत्रय द्वारा अभिप्रेत शरीरत्रय में व्याप्त पंचविध (वामावर्त चीतारूपी) वृत्र को, प-वर्ण द्वारा, पाँच दक्षिणावर्त स्वस्तिकों के रूप में वरुणत्व की ओर मोड़ा जा रहा है, क्योंकि वामावर्त स्वस्तिक वृत्रत्व की ओर मुड़ने का सूचक है। परन्तु प्रश्न उठता है कि वह कोनसा केन्द्र है जिससे बायें या दाहिने मुड़ने की बात यहाँ अभीष्ट है।

इसका उत्तर सिंधुघाटी के क्रॉस में निहित है जिसकी अनेक मुद्रायें, मोहेन-जोदरो तथा हड़प्पा दोनों स्थानों पर मिली हैं। कुछ विद्वानों[5] का मत है कि क्रॉस का चिन्ह सिंधुघाटी में बाहर से आया, क्योंकि वह इतनी अधिकता से नहीं मिला जितना कि स्वस्तिक। परन्तु कुछ भी हो, क्रॉस को वामावर्त अथवा दक्षिणावर्त करने से ही स्वस्तिकद्वय का निर्माण होता है और ऊपर वरुणत्व एवं वृत्रत्व के प्रसंग में सिंधुघाटी के प्रतीकों में दक्षिणावर्त एवं वामावर्त होने की जो स्पष्ट सामान्य परंपरा दिखाई पड़ती है, उसको देखते हुये यह मानना अधिक संगत प्रतीत होता है कि क्रॉस मानव-व्यक्तित्व की उस केन्द्रस्थ स्थिति

---

(१) MFEM; Pl. XCVI, 510.

(२) द्रष्टव्य M.I.C, Pl. CXIV, 500-515; MEH. Pl. XCV, 396-399; 392.

(३) MEH. Pl. XCII, 278.

(४) MEH. Pl. XCIII, 306.

(५) Further Exavations at Mohanjodaro by Mackey, p. 656,

का द्योतक है जिससे वामावर्त होकर वृत्रत्व के अंधकार की ओर जाया जा सकता है और दक्षिणावर्त हो कर वरुणत्व के प्रकाश की ओर भी। दक्षिणावर्त स्वस्तिक वरुण का प्रतीक है और वामावर्त वृत्र का, परन्तु दोनों के बीच में कौन (कः) है ? इसका उत्तर है—क्रॉस जो सिंधुघाटी का क-वर्ण भी है और जिसका अर्थ होता है 'कौन' अथवा 'क्या'।

क्रॉस और मन

सिंधुघाटी का क्रॉस[1] कभी-कभी मन के मकार से घिरा हुआ होता है और उस मकार के भीतर चारों कोनों पर चार नकार बने हुये होते हैं। इसका अभिप्राय है कि मानव-व्यक्तित्व की जो केन्द्रीय स्थिति क्रॉस द्वारा व्यक्त की जाती है उसको चारों ओर से मन घेरे हुये है जिसकी चतुर्विध गति को प्रकट करने के लिये अन्यत्र[2] मकार के भीतर चार रेखाचतुष्टयात्मक पट्टियाँ रहती हैं। इन पट्टियों में से, दो तो आड़ी रेखाओं की पट्टियाँ हैं जो क्रमशः अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्ति की द्योतक प्रतीत होती हैं और दो पड़ी रेखाओं की पट्टियाँ हैं जिन्हें क्रमशः वरुणत्व और वृत्रत्व को दक्षिणावर्त तथा वामावर्त प्रवृत्ति को बतलाती हुई माना जा सकता है। इस प्रकार चार रेखा-पट्टियों द्वारा मन को जिन द्विविध प्रवृत्तियों को व्यक्त किया जाता है वही ऋग्वेद[3] में संभवतः मनरूपी गाड़ी (अनोमनस्मयं) के चक्र कहे गये हैं और उपनिषद्[4] में क्रमशः दैव और मानुष-वित्त के नाम से जाने जाते हैं। मानव-मन जब इन द्विविध प्रवृत्तियों से भी मुक्त होजाता है, तो उसको शुद्ध क्रॉस अथवा उड़ते हुये श्येन के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया जाता है। अतः एक मुद्राचित्र[5] के एक ओर क्रॉस बना हुआ दिखाया गया है और दूसरी ओर उड़ता हुआ श्येन। इसी स्थिति का सुन्दर चित्र हड़प्पा[6] से प्राप्त एक मुद्रा में है जहाँ यूप के सान्निध्य में खड़े एक व्यक्ति के शिर पर उड़ता हुआ श्येन है और उसका शीर्षक है 'अपंच वृत्र यस्न' जिसका

---

(१) MEH. Pl. XCV, 390, (देखिये विशिष्ट प्रतीक सं० १)
(२) MEH. Pl. XCV, 389 (देखिये विशिष्ट प्रतीक सं० २)
(३) अनो मनस्मयं सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम् (ऋ० १०,८५)
(४) वृ० उ० १, ४, १७, १५, १-३।
(५) देखिये विशिष्ट प्रतीक सं० ३ (MEH, Pl. XCI, 255)
(६) MEH. Pl. XCIII, 318.

अर्थ है कि ऐसा यज्ञ जहाँ श्येन वृत्र के पांचों बंधनों से मुक्त हो चुका है। इसी स्थिति को व्यक्त करने के लिये, मोहेनजोदरो से प्राप्त एक मुद्रा[1] पर एक योगी के शिर:स्थित वषट् पर आरूढ प्रणव दिखलाया गया है और एक श्येन को उड़ता हुआ बताया गया है।

मानव-व्यक्तित्व में मन का परिवेष्टन

क्रॉस के चारों ओर जो मन का परिवेष्टन दिखाया जाता है, मानव-व्यक्तित्व में वस्तुत: उसके ऊपर भी और परिवेष्टन होते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण विशिष्ट प्रतीक सं० ४ में देखा जा सकता है। यह प्रतीक कई शब्दों से बना हुआ समष्टिवर्ण है जिसमें ऊपर वकार-रहित 'वृत्र' और उसके नीचे द्विविध 'मन' तथा उसके नीचे 'अन' लिखा है; 'अन' के दोनों ओर 'अप' शब्द 'मन' के द्विविध मकार से जुड़ा हुआ प्रकट करता है कि एक 'अप' केवल बौद्धिक है और दूसरा शारीरिक। इसी प्रकार वकाररहित वृत्र (अर्थात् ऋत्र) संभवत: वृत्र के ऋतमय रूप की ओर संकेत करता है। अत: यह समष्टिवर्ण प्रतीक मानव व्यक्तित्व के उस व्यावहारिक रूप का द्योतक है जिसमें वृत्र अपने विरोधी वृत्रत्व को छोड़कर सहयोगी ऋतवान् रूप धारण करके द्विविध 'अप' (कर्म) उभयात्मक 'मन' तथा 'अन' का सेवक होकर रहता है। इसके विपरीत ऐसे भी प्रतीक[2] हैं जिनमें वृत्र इतना बढ़ जाता है कि मन सर्वथा लुप्त (वृत्र द्वारा कवलित) हो जाता है और पूर्व-प्रतीक के द्विविध 'अप' को 'पाप' शब्द में परिणत कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप समूचे प्रतीक द्वारा 'वृत्रपापन्' शब्द बन जाता है। एक अन्य[3] प्रतीक में, प्राण-सूचक 'अन' शब्द भी नहीं रहता और केवल 'ऋत्रपाप' अवशिष्ट रह जाता है और अन्यत्र मानव-व्यक्तित्व के अन, अग्नि आदि सभी अन्नभूत[4] हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उसका प्रतीक शिर-रहित बनाया जाता है। इस अवस्था में मानव-व्यक्तित्व को 'वृत्रमख' माना जाता है जिसका सुन्दर चित्रण एक ताम्रमुद्रा[5] में प्राप्त है। इसमें एक ऐसे शिर-विहीन पशु का चित्र है जिसके पैर हाथी के हैं और रिक्त उदर-

---

(१) देखिये आ० ५३।
(२) देखिए विशिष्ट प्रतीक संख्या ५ (MEH, Pl. XCII, 273, 282, 276)
(३) MEH, Plate XCII 284.
(४) MIC, Plate CXVII, 9.
(५) MIC, Plate CXVII 7.

भाग में एक हृदयाकार वस्तु नौ बड़े-बड़े बिन्दुओं से घिरी है तथा शरीर के अगले और पिछले भाग में भी ऐसे ही बिन्दु बने हुए हैं। पशु के सामने रक्खा हुआ वरुण-पात्र लगभग मकार-तुल्य हो गया जिसमें बने हुए 'ख' (छिद्र) उसे 'मख' में परिणत कर रहे हैं। पशु के नीचे स्पष्टत: 'वृत्र मख' लिखा है और पास में त्रिभुजाकार[1] आकृति के भीतर छ: लकीरें खींच कर अनान्न और मन को सप्तधा विभक्त बताया गया है।

वृत्रवरुण मानव

इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व अप, अन, अन्न और मन का संघात है जो वृत्र और वरुण-नामक दो छोरों के बीच उत्थान-पतन करता रहता है। वृत्र का प्रभाव जितना ही अधिक बढ़ता है, उतना ही प्रतीक-पशु[2] का शिरो-भाग और वरुण-पात्र क्षीण होते जाते हैं और सींगों में अधिकाधिक वक्रताएं आती जाती हैं। वृत्रत्व का सर्वाधिक प्रभाव दिखाने के लिए मोहनजोदरो में एक ऐसे वामावर्त पशु[3] की कल्पना की गई है जिसका पिछला धड़ और पैर तो अश्व या गाय जैसे हैं, परन्तु अग्र भाग दो वक्र सींगों से युक्त मुर्गे जैसा है और उसकी सारी गर्दन पर से ही जैसे कांटे दिखाए गए हैं। इस चित्र के ऊपर पराशक्तिसूचक पकार को पंचधा विभक्त करके एक अ-वर्ण के ऊपर स्थित करके मानव-व्यक्तित्व के विक्षेपाधिक्य की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। इससे कम वृत्रत्व और विक्षेप रखने वाले व्यक्तित्व को बताने के लिए इसी पशुप्रतीक का एक दूसरा[4] रूप भी मिलता है जिसमें पशु का मुख फिर भी दक्षिणावर्त है, सींग छोटे और कम वक्रता वाले हैं और गर्दन के कांटे छोटे-छोटे तथा ऊपर बना हुआ पकार अभी केवल दो ही भागों में विभक्त है। इसकी तुलना एक अन्य ताम्रमुद्रा[5] पर अंकित पुरुषाकृति से की जा सकती है

(१) देखिए लिपिद्वय-पटल।

(२) देखिए MIC. Pl. CXVII 8 और 12 जहाँ ताम्रमुद्राओं पर 'वृत्रवरुण मख' लिखा है और साथ में 'अनान्नमन' के सप्तविध विभाजन को बतलाने वाले चिन्ह भी हैं। तुलना कीजिए MIC, Pl. CXVIII, 4 तथा XCIII, seal 9, वहाँ भी ऐसा ही लेख और प्रतीक प्राप्त हैं।

(३) MFE, Pl. XCIX, 673 तुलना करो वही 670 जहाँ शिरविहीन वामावर्त पशु अत्यधिक वक्रता वाले सींगों से युक्त दिखाया गया है।

(४) MFE, Pl. C. seal D.

(५) MFE Pl. XCIII seal 14.

जिसके शिर पर वरुणसूचक वकार, दाहिने हाथ में वृत्र-चिह्न तथा बाएं हाथ में द्विधा विभक्त पकार और पीछे की ओर शिर तथा कटिप्रदेश में ईषद्वक्र दो दण्डाकार अ-वर्ण सम्भवतः अन और अन्न पर वृत्रत्व के प्रभाव को व्यक्त कर रहे हैं। चित्र के नीचे लिखा है 'वृत्ररप ईस अ-वर्ण—अवर्णजय यस' इससे प्रकट है कि यह चित्र ऐसे मानव-व्यक्तित्व का प्रतीक है जिसमें वृत्ररप (वृत्र की पापप्रवृत्ति) पर मानवात्मा अपना नियंत्रण रक्खे हुए है। एक दूसरी मुद्रा[1] में एक दाहिनी ओर को झुका हुआ मनुष्य है जिसके दाहिने हाथ में धनुष, बायें में 'अन', पगड़ी में 'यज्ज्न' (यज्ञ ?) तथा उसके ऊपर सम्भवतः ब्रह्म-सूचक उकार लिख कर उपनिषद्[2] के उस साधक का चित्र उपस्थित किया गया है जो प्रणवरूपी धनुष पर आत्मारूपी शर का संधान करके ब्रह्म को लक्ष्य बनाता है। इस अवस्था में वृत्रत्वशून्य होकर 'अन तथा अन्न' पूर्णतया वरुणत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

मानव-व्यक्तित्व के तीन पक्ष

सिंधुघाटी की परम्परा में, एक दृष्टि से मानव व्यक्तित्व के तीन पक्ष मानते हुए, उसे 'अवर्णत्रय अनान्नद्वय म' कहा गया[3] है। यहां पर तीन स्थूल (खरबूजाकार) अवर्णत्रय क्रमशः अन्नमय, मनोमय तथा प्राणमय पुरुष प्रतीत होते हैं जो निस्सन्देह अन (प्राण), अन्न और मन (म) के संयोग से निर्मित हैं। इस बात की पुष्टि उक्त लेख से सम्बद्ध मुद्राचित्र[4] से भी होती है। चित्र में तीन पुरुषों को हाथ में क्रमशः निम्नलिखित प्रतीकों के दंड पकड़े दिखाया गया है—

(१) अन्नादान्न और त्रिशिरा प्रतीक
(२) सप्ति-वत्स प्रतीक
(३) वषट्पताका प्रतीक

इनमें से प्रथम प्रतीक में एक त्रिशूल के ऊपर सप्तछिद्रा टोकरी-सी रक्खी हुई है। इसकी तुलना उस वामावर्त त्रिशिरा चित्र[5] से कर सकते हैं जिस पर त्रिशूल

---

(१) MIC. Pl. CXVII, seal 16.
(२) मुं०उ०—प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।
(३) द्रष्टव्य—MIC. Pl. CXVIII, seal 9 का लेख।
(४) वही।
(५) MIC., Pl. CXII, seal 382.

के ऊपर 'सप्त' संख्या लिखी है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वामावर्त चित्र वृत्रत्व के सूचक हैं; अतः इस त्रिशिरा को ब्राह्मणग्रंथों में वर्णित उस त्रिशिरा विश्वरूप[1] की प्रतिच्छाया माना जा सकता है जो त्वष्टा का पुत्र है और अपने तीन मुखों से क्रमशः सोम, सुरा तथा अशन का सेवन करता है। इसके विपरीत सिंधुघाटी-परम्परा में एक दक्षिणावर्त[2] त्रिशिरा की भी कल्पना है जो पहली से इस बात में भी भिन्न है कि यहाँ तीन मुखों में से बीच वाला मुख एकशृंगी पशु का है, जब कि पहले में सभी मुख द्विशृंगी पशुओं के हैं। दक्षिणावर्त त्रिशिरा के एक अन्य चित्र[3] के ऊपर कोष्ठक में एक पक्षी बना है और साथ में 'अग्नि-अन-द्वय', 'सप्तान्न-मन-द्वय' तथा 'दमनाग्निद्वय' शीर्षक क्रमशः तीन शिरों के अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वहाँ पक्षीरूपी आत्मा शरीर-रूपी कोष्ठक में बैठा हुआ, दक्षिणावर्त त्रिशिरा के प्रतीक में केवल भोक्ता ही (सप्तान्नमन) नहीं, अपितु उसके साथ में दमनाग्नि आदि का भी समावेश है।

अत एव अन्नाद-अन्न-प्रतीक दो प्रकार का बनता है—एक तो वामावर्त त्रिशिरा के अनुरूप जिसमें दण्डारूढ त्रिशूल रहता[4] है और दूसरा दक्षिणावर्त त्रिशिरा के अनुरूप जिसमें दण्डारुढ त्रिकोण अथवा प्याला सा रहता[5] है। इस प्रसंग में एक उल्लेखनीय बात यह है कि दण्डारूढ त्रिशूल, हो अथवा त्रिकोण, दोनों के द्वारा 'अत्रि' शब्द बनता है जिसका अर्थ ब्राह्मणग्रंथों[6] के अनुसार अन्न खाने वाला है। यह अत्रि स्वयं वाक्[7] है; अतः 'अत्रि' कहा जाने वाला 'अन्नमय' पुरुष वस्तुतः वाङ्मय अग्नि[8] अथवा प्राण[9] है। यह अत्रि का देवरूप है, परन्तु इसके विपरीत एक राक्षसरूप अत्रि की भी कल्पना थी और तदनुसार 'अत्रिणः'[10] शब्द का अर्थ राक्षस अथवा पापी किया जाता था। अत्रि की इस

(१) तस्य सोमपानमेवैकं मुखमास। सुरापाणमेकमन्यस्मा अशनायैकं। तमिन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद (श० १,६,३,२)।
(२) MFEM., Pl. XCIX, seal B. XCVI, 494.
(३) MFEM., Pl. LXXXIII, seal 24.
(४) MIC., Pl. CVIII, 149; 167; CX; 273; CIX, 221.
(५) MIC., Pl. CIX, 229–243.
(६) वागेवात्रिः वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्हि वै नामैतद्यदत्रिरिति (श० १४,५,२,२)।
(७) वागेवात्रिः (श० १४,५,२,२)।
(८) स वै यः सोऽत्ताग्निरेव स (श० १०,६,२,२)।
(९) प्राणो वाऽत्ता तस्यान्नमेवाहितयः (श० १०,६ २,४)।
(१०) अत्रिणो वै रक्षांसि (ष० ब्रा० ३,१) पाप्मानोऽत्रिणः (ष०ब्रा० ३,१), रक्षांसि वै पाप्मात्रिणः (ऐ० ब्रा० २,२)।

द्विविध कल्पना के आधार पर, सिन्धुघाटी के उक्त द्विविध त्रिशिरा को समझना सरल हो जाता है। मानव-व्यक्तित्व स्थूल (अन्न) दृष्टि से वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय रूप में त्रिविध होता हुआ भी वस्तुतः एक है, अतः अत्रि (तीन नहीं) कहलाता है, परन्तु इस अवस्था में वह अन्न का अत्ता[1] या अन्नाद[2] भी है; अतः 'अत्रि' शब्द को 'अद्' धातु से निष्पन्न मानकर उसमें अत्ता[3] या अन्नाद के श्लिष्टार्थ की भी कल्पना कर ली गई। देवरूप में यह अत्रि त्रिशिरा एक ऐसा समवेत पशु है जिसमें सिंधुघाटी-परम्परा के अनुसार अग्नि-अनद्वय, सप्तान्नमनद्वय तथा दमनाग्निद्वय का समावेश माना जाता है और ऋग्वेद[4] में इसी को 'त्रिमूर्धा' सप्तरश्मि' अग्नि कहा जाता है। राक्षसरूप में वह त्रिशीर्षा 'सप्तरश्मि' अथवा 'षडक्षत्रिशीर्षा दास' कहलाता है जिसे इंद्रप्रेरित त्रित आप्त्य[5] मारता है। यही ब्राह्मणग्रंथों का त्रिशिरा विश्वरूप है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

अस्तु, सिन्धुघाटी और वैदिक साहित्य में समान रूप से त्रिशिरा के साथ सात की संख्या जुड़ी हुई है और यही उक्त 'अन्नादान्न' प्रतीक में स्थित टोकरी के सप्त छिद्रों में देखी जा सकती है। उपनिषदों और ब्राह्मणों में अन्नों की भी संख्या सात है; अतः उक्त अत्रि-शब्द के सात की संख्या[6] से सात अन्न ही अभिप्रेत प्रतीत होते हैं और इन्हीं के सन्दर्भ में ऋग्वेद में त्रिशिरा को सप्तरश्मि कहा गया होगा। यह अन्न राक्षसों के लिए विरूप अथवा नानारूप ही बना रहता है (तां० १४,६,८) परन्तु देव लोग अन्नों की इस अनेकता में एकता को ढूंढते हुए वैश्वदेव (तै० १, ६, १, १०) अथवा आत्मसम्मित अन्न(श० ७, ५, १, १४) को भी प्राप्त कर लेते हैं जो सर्वथा रक्षा करता है, हिंसा नहीं। सम्भवतः इसी बात को प्रकट करने के लिए दक्षिणावर्त (देवरूप) त्रिशिरा में एकशिर एकशृंगी पशु का भी रहता है और अन्यत्र जहाँ भी एकशृंगी पशु का चित्र होता है उसके आगे प्रायः 'अन्नादान्न' चिन्ह रहता है।

---

(१) अत्तिर्हि वै नामैतद् यदत्रिरिति (श० १४,५,२,२; १०,६,२,४)।
(२) श० २,१,४,२८; २,२,४,१।
(३) श० १४,५,२,२; १०,६,२,२; १०,६,२,४।
(४) ऋ० १,१४६,१।
(५) ऋ० १०,८,८; ६६,६।
(६) सप्त वा अन्नानि (तै० १,३,८,१)।

२. सप्तिवत्स प्रतीक—इस प्रतीक में त्रिदण्डात्मक स्टैंड के ऊपर एक वत्स उस पशु का प्रतीत होता है जो अन्यत्र मोहेनजोदरो में एकशृंगी पशु के रूप में पाया जाता है ; वत्स के चार पैरों और स्टैंड के तीन दण्डों को मिलाकर सप्त-संख्या बनती है, अतः इस प्रतीक को सप्ति कहा गया है। एक अन्य[1] मुद्रा पर इसी पशु के साथ 'वायु' लिखा मिलता है और ब्राह्मणग्रंथों में वायु को वत्स[2] तथा सप्ति[3] कहा जाता है। शतपथब्राह्मण[4] के अनुसार मन ही वायु हो जाता है और मन ही वत्स (श० ११, ३, १, १) है। अतः इसको मनोमय पुरुष कह सकते हैं जिसे सिन्धुघाटी में वायुमुख अथवा यज्ञ कहा गया है। (MIC. CXVIII, 12 b, MFEM. Cl. 12-a)

३. वषट्केतु—तीसरे पुरुष के हाथ में एक सदण्ड पताका है जिसे वषट्केतु कह सकते हैं, क्योंकि पताका वकाराश्रिता तथा षट्छिद्रवाली है। शतपथ-ब्राह्मण[5] के अनुसार वाक् ही वषट्कार है, क्योंकि वाक् रेतस है जिसे संवत्सर प्रजापति षट् ऋतुओं में सिञ्चन करके प्रजाओं को जन्म देता है यही वषट्कार है। सम्भवतः इस प्रतीक के पुरुष का संवत्सर नाम संवत्स पर आश्रित है क्योंकि इसके अन्तर्गत उपर्युक्त वत्स (अथवा कुमार[6]) का समावेश माना जाता था। यह संवत्सर ही पितृमान्[7] सोम है जिसके लिए (उक्त वषट् के सन्दर्भ में) षट्कपाल पुराडोश का विधान सार्थक है। मानव-व्यक्तित्व के इस पक्ष को सिन्धुघाटी[8] में 'इंदु वृत्र मख' कहा गया है जिसका प्रतीक वरुणपात्र से युक्त दक्षिणावर्त सिंह या व्याघ्र प्रतीत होता है। इंद्र का अर्थ सोम है और ब्राह्मण-ग्रंथों में भी वृत्र को (श० ३, ४, ३, १३; ३, ६, ४, १; ४, २, ५, १५)

---

(१) MIC., CXVIII, 12—b.

(२) अयमेव वत्सो योऽयं (वायुः) पवते (श० १२, ४, १, ११)

(३) वायुः सप्तिः (तै० १, ३, ६, ४)

(४) मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ (श० ८, १, १, ७)

(५) वाग्वै वषट्कारो वाग्रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति षडित्यृतवो वै षट् तदृतुषु एवैतद् रेतः सिच्यते तदृतवो इमाः प्रजाः प्रजनयन्ति तस्मादेवं वषट् करोति।
(श० ब्रा० १, ७, २, २१)

(६) संवत्सरऽएव कुमारो व्याजिहीर्षति (श० ११, १, ६, ३) संवत्सरवेलायां प्रजाः वाचं प्रवदन्ति (श० ७, ४, २, ३८)

(७) तै० १, ६, ८, २; १, ६, ६, ५; श० २, ६, १, ४)

(८) MFEM. Pl. Cl, 12-c; MIC. Pl. CXVIII, 12-a

और सोम को 'सवृत'[१] (वृत्रसहित ?) कहा गया है। इन्द्र वृत्र के दो टुकड़े करता है जिनमें से एक तो सोम कहलाता है और दूसरा जठराग्नि। अतः मानव-व्यक्तित्व के इस पक्ष को इन्द्र अथवा प्राणमय पुरुष कहा जा सकता है। यही वषट्केतु सिन्धुघाटी में देवों अथवा देवोपम व्यक्तियों के शिर पर लटकती दिखाई जाती है।

द्विशृंगी पशु और पुरुष

उक्त तीनों पुरुषों के पशु-प्रतीकों में एक उल्लेखनीय बात यह है कि वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय से सम्बद्ध पशुओं में क्रमश. द्विशृगी, एकशृंगी और अशृंगी पशु पाया जाता है। यद्यपि उक्त स्थानों पर इस भेद के अतिरिक्त तीनों पशुओं के अन्य आकार-प्रकार भी भिन्न हैं, परन्तु संभवतः ये तीनों पशु एक ही के रूपांतर माने जाते थे। सिंधुघाटी में जो सर्वाधिक लोकप्रिय पशु है वह प्रायः एकशृंगी रूप में मिलता है और उसके सामने वही 'अन्नादान्न' प्रतीक रक्खा मिलता है जिसको मार्शल ने धूपदान कहा है। इसी पशु को एकाध स्थान पर (MEH, XCIII, 314) दो सींगों वाला और एकसींग वाला[२] भी देखा गया है। इनमें द्विशृंगी पशु की मुद्रा[३] पर एक ओर 'उकार अनान्न' लिखा है और दूसरी ओर 'वृत्रद्वयाग्निन् अन' शीर्षक है। इसका अर्थ है कि यह द्विशृंगी पशु उस वाङ्मय (अग्नि) पुरुष का प्रतीक है जिसमें ज्योतिसूचक उकार 'अनाग्न' में परिणत हो गया है और अन्य दो पुरुषों (मनोमय और प्राणमय) का अग्नि आवृत (वृत्र) हो चुका है। इसके विपरीत एकशृंगी पशु मनोमय पुरुष का प्रतीक है जिसमें केवल एक ही (प्राणमय) पुरुष का अग्नि आवृत रह जाता है और अशृंगी पशु प्राणमय पुरुष का प्रतीक है जिसमें एक भी पुरुष का अग्नि आवृत (वृत्र) नहीं रहता; क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यहाँ पर इंद्र वृत्र का भेदन करके उसे सोम और जठराग्नि में परिणत कर देता है। इन तीनों पशुओं की तुलना उन पुरुषाकृतियों से भी की जा सकती है जिनको क्रमशः द्विशृंगी[४], एकशृंगी[५] और अशृंगी[६] चित्रित किया जाता है।

(१) सोम एव सवृत: (गो० ब्रा० १, २ २४), तै० सं० १,६,७।
(२) MIC., Pl. CXVIII, 9; 12-a
(३) MEH, Pl. XCIII, 314.
(४) MEH, Pl. XCIII, 319
(५) MEH., Pl. XCIII, 310
(६) MEH.. Pl. XCIII, 308

द्विशृंगी पशु और वृक्ष

यद्यपि उक्त तीनों पशुओं के ऐसे उदाहरण मिल गए जिनमें सींग को छोड़ कर उनका अन्य आकार-प्रकार एकसा ही है, परन्तु वृत्रत्व का आवरण जितना अधिक गहरा होता जाता है पशु के शरीर में उतनी ही अधिक वक्रता, क्रूरता, स्थूलता एवं जटिलता आती जाती है, यहाँ तक कि कभी-कभी वह पशु ही दूसरा हो जाता है। उदाहरण के लिए जो पशु सर्वत्र एकशृंगी के रूप में उपलब्ध है, वही जब दो सींग धारण करता है तो अन्य आकार-प्रकार की समानता रहते हुए भी उसके सींगों के रूप-परिवर्तन के कारण ही बहुत परिवर्तन आ जाता है। अतः एक[१] दक्षिणावर्त रूप में उसके दो सींग हैं जो सिंधुघाटी के महावृषभ के ऊर्ध्वमुखी सींगों से सादृश्य रखते हैं तो उसके वामावर्त[२] रूप में वे ही दो सुदीर्घ तथा पार्श्वमुखी हो जाते हैं। किसी दक्षिणावर्त रूप में एकशृंगी पशु का शिर तथा शृंग बहुत ही सूक्ष्म[3] हो जाता है किसी में अति स्थूल[४] और किसी-किसी में शिर की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती[५] है। सामान्यतः द्विशृंगी पशु गौर-नामक बैल के समान होता है और वह अन्नमय पुरुष का प्रतीक है जिसमें अन्य दो पुरुष (मनोमय और प्राणमय) सम्भवतः अन्न से पूर्णतया आवृत माने जाते हैं तथा इसी तथ्य के ज्ञापनार्थ पशु के दो सींग बनाए जाते हैं, परन्तु जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, यह द्विशृंगी पशु शायद मूलतः आकार-प्रकार में सींग को छोड़ कर सर्वथा एकशृंगी पशु के समान ही था।

अतः जब अन्नमय देह को एक वृक्ष का रूप दिया गया तो उसके अधिष्ठाता आत्मा की कल्पना द्विशृंगी पुरुषरूप में की गई[६] अथवा दो संयुक्त[७] एकशृंगी पशुओं के रूप में की गई। श्वेताश्वतर-उपनिषद् में भी एक अवर्णरूपी ब्रह्म के साथ शक्तियोग से जिस नानावर्णसृष्टि का उल्लेख[८] किया गया है उसको एक

(१) MFEM, Pl. LXXXIX, 359.
(२) MIC., Pl. CX, seal 302.
(३) MFEM, Pl. LXXXIV, 85; LXXXVIII, 272.
(४) वही, Pl. LXXXIV, 74; 68.
(५) MFEM., Pl. LXXXVII, 251; 247; Pl. LXXXIX, 361.
(६) MIC., Pl. CXI, seal 356; 357.
(७) MIC., Pl. CXII, seal 387.
(८) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णानेकान्निहितार्थो दधाति (४.१)।

वृक्ष के रूप में देखा गया है। इस उपनिषद् के अनुसार "एक लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण की अजा है जो अनेक सरूप प्रजाओं का सर्जन करती है और जिसका एक अज तो अजा का सेवन करता है, परन्तु दूसरा अज उस 'भुक्तभोगा' को छोड़ देता है। दो सुपर्ण सखा परस्पर संयुक्त होकर उसी एक वृक्ष का परिष्वजन कर रहे हैं, उनमें से एक तो स्वादिष्ट पिप्पल-फल खाता है और दूसरा बिना खाए हुए देख रहा है। उस एक ही वृक्ष में एक पुरुष निमग्न है जो 'अनीश' होने की भावना से युक्त होकर मोहग्रस्त होकर, शोक को प्राप्त होता है; जब उससे पृथक् अन्य ईश को प्रसन्न (जुष्ट) देखता है और उसकी महिमा को जान लेता है, तो वह वीतशोक हो जाता है।"[1] अज, अजा, ईश और अनीश आदि के विषय में स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए श्वेताश्वतर[2] उपनिषद् का कहना है कि "यह विश्व क्षर और अक्षर, व्यक्त और अव्यक्त का संयुक्त रूप है जिसका भरण-पोषण ईश (परब्रह्म) करता है; अनीश आत्मा भोक्तृभाव से युक्त होने के कारण बंधन में पड़ता है तथा देव (ईश) को जान लेने पर सब बंधनों से मुक्त हो जाता है। ज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश-नामक दो अज हैं तथा एक अजा है जो भोक्ता के 'भोग्यार्थ' से युक्त है; जब ये तीनों प्राप्त हो जाते हैं (अस्तित्व में आ जाते हैं), तब ब्रह्म इस (विश्व) में परिणत हो जाता है, अन्यथा वह अनन्त आत्मा विश्वरूप होते हुये भी अकर्ता है।" अतः स्पष्ट है कि विश्व में अजा के अतिरिक्त दो ही तत्त्व और हैं जिन्हें दो 'अज' अथवा प्रकारान्तर से दो सुपर्ण कहा गया है। इस त्रिविध विश्वरूपी वृक्ष का एक अकर्त्ता अनन्त 'आत्मा' और है जो[3] उक्त विश्ववृक्ष के समस्त प्रपञ्च का कारण होते हुये भी उससे परे है और जिसकी 'परा' शक्ति विविधा, स्वाभाविकी कही[4] जाती है। यही 'अकर्ता अनन्त आत्मा' वह एक ध्रुव 'अज' है जिसे सर्वतत्त्वों

---

(१) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्यमहिमानमिति वीतशोकः॥ (श्वे० उ० ४, ५-७)

(२) वही, १, ८, ९।

(३) स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् (वही ६,६)

(४) वही ६, ८।

(उक्तत्रितय) से विशुद्ध कहा जाता है और इसी की 'पराशक्ति' वह अजा है जो विश्ववृक्षरूपी प्रपंच में 'भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता' कही जाती है। अतः उक्त दो अज (ज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश) इसी एक अज के द्विविध रूपांतर कहे जा सकते हैं जिसको सर्वप्रथम 'अ-वर्ण' कहा गया है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद् के उक्त अज और अजा के संयोग से विश्ववृक्ष की उत्पत्ति और स्थिति का ही सुन्दर चित्र मोहेनजोदरो से प्राप्त एक मुद्रा[1] पर अंकित है। उपनिषद् के वृक्ष के समान यह वृक्ष भी, उसके पत्तों को देखते हुये, पीपल का पेड़ ही है और इसके तने से संयुक्त दो एकश्रृंगी शिरों को उन दो अजों का सूचक माना जा सकता है जिन्हें उपनिषद् में ज्ञ और अज्ञ पुरुष कहा गया है। निस्संदेह ये दोनों अज उसी एक ध्रुव अज के दो रूप हैं; इसीलिये संभवतः इनका एक एक ही सींग है। इस वृक्ष का मूल वही दण्डाकार अ-वर्ण है। इस दण्ड के ऊपर पीपल के पत्ते के समान एक त्रिभुजाकार आकृति है जो दो 'ज'-वर्णों के संयोग से बनी है; इस प्रकार दंड-सहित यह त्रिभुजाकार आकृति दो अजों का संयुक्त रूप बन कर उपनिषद् के उस संयुक्त सृष्टि का बीज बन जाती है जिसे 'व्यक्ताव्यक्त तथा क्षराक्षर विश्व'[2] कहा गया है। दंडारूढ त्रिभुज के ऊपर स्थित वृत्ताकार अ मिलने से अजा शब्द बन जाता है और उसके इस संयुक्त तत्त्व में त्रिभुज की तीन भुजाएं उन तीन वर्णों (लोहित, शुक्ल और कृष्ण) की द्योतक प्रतीत होती हैं जो अजा[3] के भीतर समाविष्ट माने गये हैं। दंडारूढ त्रिभुज से उद्भूत पीपल वृक्ष के पत्ते ही इस अजा की वे सरूपा (त्रिभुजाकार) प्रजाएँ हैं जिन्हें उपनिषद् की अजा उत्पन्न करती हुई कही जाती है।[4] इस अजा की तुलना सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति से की जाती है जिससे उत्पन्न समस्त सृष्टि उसी की भाँति (सरूप) त्रिगुणात्मक होती है। इसी के प्रतीक-स्वरूप मोहेनजोदरो से प्राप्त उन त्रिभुजाकार अथवा शंकुवत् वस्तुओं को लिया जा सकता है जो संभवतः चैतन्य-प्रतीक दंड पर आरूढ करके प्रदर्शित की जाती[5] थीं। यह अन और अन्न, देही और देह अथवा चैतन्य और जड़ की

(१) Mohenjodaro and Indus Civilization Vol. I, Plate CXII, seal 387; (आ० ८)

(२) संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः (श्वे० उ० १, ८)

(३) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां (श्वे० उ० ४, ५)

(४) बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः (वही ४, ५)

(५) देखिये MFEF., Plate CIV के १० और ११, (आ० ९)

संयुक्त इकाई का प्रतीक था। एक दूसरा ढंग इस संयुक्त (शक्ति-शक्तिमान्) तत्त्व को व्यक्त करने का था ज्योति-युक्त दीपक के प्रतीक द्वारा। उपनिषद्[1] ने इसी को 'दीपोपम' आत्मतत्त्व कहा है, और यही हम आज भी आरती-दीप तथा उन अन्य ज्योति-दीपों के रूप में अपने यहाँ पाते हैं जिनको नवरात्र, दिवाली, दशहरा आदि के पूजन-पाठ के अवसर पर रक्खा जाता है। मोहेनजोदरो[2] में भी दीपावली के दीपों की भाँति अनेक लघु दीपों का पाया जाना इसी प्रथा का द्योतक प्रतीत होता है। सिंधुघाटी के न-वर्ण के भीतर दण्डाकार अ-वर्ण को रख कर भी यह प्रतीक[3] बनता है। इसी प्रतीक में जब 'अप' (कर्म) को और सम्मिलित किया जाता है, तो अग्नि शब्द के शिर पर एक केन्द्रस्थ छिद्रसहित वृत्ताकार अ-वर्ण[4] रख दिया जाता है। सिंधुघाटी में केन्द्रस्थ छिद्रसहित जो अनेक वृत्ताकार[5] पदार्थ मिले हैं वे संभवतः इसी प्रतीक की प्रतिकृतियाँ हैं।

अन और अन्न के इसी संयुक्त तत्त्व को हड़प्पा से प्राप्त एक सुंदर मुद्रा में देखा जा सकता है। इस मुद्रा के एक ओर लिखा है 'उकारत्रयान्न जश्न' और दूसरी ओर एक उल्टे उकाररूप पीपल-वृक्ष पर ग्यारह पत्ते हैं और उकार के भीतर एक पुरुषाकृति है जिसके शिर पर उक्त पीपलवृक्ष को स्पर्श करते हुये तीन दंडाकार अ-वर्ण त्रिशूल सा बना रहे हैं। उकारत्रय वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय पुरुषों अथवा अग्नि, वायु (आदित्य) एवं इंद्र ज्योतियों के प्रतीक हैं जो चित्र में पुरुषाकृति के शिर पर स्थित तीन दंडाकार अ-वर्णों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। उकाररूप पीपलवृक्ष का आवरण और उसके ११ पत्ते उन सात अन्नों[6] और चार वित्तों[7] की समष्टि के प्रतीक प्रतीत होते हैं जिन्हें उपनिषदों में प्रजापति के मेधा एवं तप की संयुक्त उपज कहा जाता है। विश्वात्मा उक्त त्रिविध ज्योतिस्वरूपों द्वारा उक्त अन्नवित्त समष्टि की आहुतियों को ग्रहण कर रहा है—यही 'जश्न' अथवा यज्ञ है। इसी अर्थ में 'अन' को भूमा कहने के साथ-

---

(१) श्वे॰ उ॰ २, १५.
(२) M. F. E. M. plate CXI, seal 1. (आ॰ ३)
(३) MEH. plate XCVII 521 etc. (लिपिद्वय पटल १)
(४) वही seal 521 (लिपिद्वय पटल १)
(५) वही XCV, seal 409.
(६) बृ॰ उ॰ १, ५, १-२.
(७) वही १, ४, १७।

साथ यज्ञ[1] भी कहा गया है, क्योंकि बृहदारण्यक-उपनिषद्[2] के शब्दों में 'प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन'—ये उसी एक चैतन्य तत्त्व के रूपांतर हैं जो समस्त अन्न का भोक्ता बनकर सप्तर्षियों के यज्ञ का मूल कारण बनता[3] है। अत एव उक्त 'उकारत्रयान्न जश्न' वाला पीपलवृक्ष वस्तुत: अन्नाद अन्न का संयुक्त प्रतीक है जिसकी तुलना आकृतिसंख्या ८ पर अंकित वृक्ष से की जा सकती है, क्योंकि इसमें भी दंडारूढ त्रिभुज उक्त संयुक्त तत्त्व का द्योतक है और उसमें भी पत्तियाँ ११ हैं। दंडारूढ त्रिभुज (अजा) के ऊपर, दो सग्रीव एक-शृंगी शिर धनुषाकार आकृति बनाते हुये परस्पर जुड़े दिखाये गये हैं। इनमें से प्रत्येक शिर अ-वर्ण का सूचक है और शृंगसहित ग्रीवा ज-वर्ण[4] बनाती है; इस प्रकार सग्रीव एकशृंगी शिरों के माध्यम से दो स्थानों पर 'अज' शब्द बन जाता है। साथ ही दंडरूप 'अ' के साथ ही कान, सींग और शिर द्वारा 'श' मुख से लेकर समस्त गर्दन-भाग द्वारा व तथा व के भीतर एक-एक लघु गोलाकार में दंड जोड़ने से 'इन' बन गया है; इन सभी अक्षरों को मिलाने से अश्विन शब्द बनता है। इस प्रकार दो सग्रीव शिरों द्वारा 'अजौ' तथा 'अश्विनौ' दोनों का निर्माण हो जाता[5] है। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि उक्त दोनों अजों की भाँति अश्विनौ भी संयुक्त सखा हैं जिनसे पृथक् न होने की प्रार्थना[6] की जाती है। उपनिषद् के उपर्युक्त श्लोकों में, इन्हीं दोनों को 'द्वा सुपर्णा' भी कहा गया प्रतीत होता है, क्योंकि ये दोनों सुपर्ण भी अजों के समान 'संयुक्त' (सयुज) सखा हैं, और जिस प्रकार एक अज अजा का सेवन करने वाला है और दूसरा उसका त्याग करने वाला है, उसी प्रकार एक 'सुपर्ण' भी अजारूपी प्रकृतिवृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा केवल देखता है। इसी प्रकार सुपर्णों के साथ अश् धातु (तु०क० अश्नन) का प्रयोग करके अश्विनौ के साथ उनका तादात्म्य-संबंध होना भी बता दिया है। संभवत: पर्णों की भाँति वृक्ष से जुड़े होने के कारण ही इन्हें सुपर्ण (सुंदर पत्ते) कहा गया हो। उपनिषद् के अगले श्लोक में, इन्हीं दोनों सुपर्णों को दो पुरुष कहा गया है जो सुपर्णों की भाँति एक ही वृक्ष पर

---

(१) भूमा वा अन्नः (श० १, १, २, ६) यज्ञो वा अन्नः (श० १, १, २, ७; ३, ६, ३, ३)
(२) १, ५, ३।
(३) बृ०उ० २, ४, ३-४।
(४) ज अक्षर के लिये, देखिये आगे 'संबंधित लिपि-संकेत'।
(५) वही
(६) मा नो वि यौष्टं सख्यः मुमोचतम. (ऋ. ८, ८६, ५)

(समाने वृक्षे) हैं जिनमें से एक ईश है और दूसरा अनीश प्रतीत होता है। उक्त उपनिषद्[1] ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि ये दोनों पुरुष ज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश हैं तथा इन्हीं को अजा से संबंधित दो अज कहा गया है।

अतः कह सकते हैं कि दो अजों, दो सुपर्णों, दो अश्विनों तथा दो पुरुषों के लिए सिन्धुघाटी के मुद्राचित्र १ में सग्रीव एकशृंगी शिरों की जोड़ी रक्खी गई है। इस प्रकार कई कल्पनाओं को एक में सम्मिलित करना वैदिक कवि के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि पहले ही ऋग्वेद में पूषा देव को अजाश्व[2] कहा जाता है और अश्व को श्येन के पक्षों से युक्त[3] तथा मरुतों को अश्वपर्ण[4] बताया जाता है; स्वयं अश्विनों[5] की गति श्येन के समान है और दधिका अश्व[6] हंस है तथा उसकी तुलना श्येन से भी की गई है। फिर भी एकशृंगी शिर की बात अद्भुत प्रतीत हो सकती है, परन्तु यदि इसे वास्तविकता पर आधारित न मान कर पूर्ववत् कवि-कल्पना पर आश्रित माना जाय तो इसमें कोई अनोखी बात नहीं रह जाती। ऋग्वेद के कवियों ने कई संदर्भों में एकशृंग की ही कल्पना की है। उदाहरण के लिए, गायों का एक ही सींग (ऋ. ५,५९, ३) है। अग्नि[7] का भी एक ही सींग है और सोम देवता का तिग्म शृंग (९, ८७, ७; ९, ५, २) भी एक ही है। ऋ० १, १६३, ८ में वर्णित अश्व भी हिरण्यशृंग है और उसे 'अवर इन्द्र' भी कहा गया है। इसलिये सिंधुघाटी के एकशृंगी पशु के दो शिरों को उदनिषद् के दो अज, दो सुपर्ण, दो अश्विन अथवा दो पुरुष मानने में कोई असंगति नहीं है। इसका अभिप्राय है कि वेद में एक ऐसे एकशृंगी की कल्पना की गई थी जिसे पशुओं का भी प्रतीक माना जाता था।

वस्तुतः यह कल्पना वैदिक और सिंधुघाटी-परंपरा में एक सी मान्य है। दोनों में एक ऐसे पशु की कल्पना की गई थी जो सभी पशुओं का प्रतिनिधि माना जा

---

(१) ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
(श्वे० उ० १, ९)

(२) ऋ० १, १३८, ४; ६, ५५, ३-४; ६, ५८, २; ९, ६७, १०।

(३) ऋ० १, १६३, १।

(४) ऋ० १, ८८, १; ६, ४७, ३१।

(५) ऋ० १, ११८, ११; ५, ७८, ४।

(६) ऋ० ४, ४०, ३।

(७) ऋ० ६, ६०, १३; ५, २, ९।

सके । मैत्रायणीसंहिता[1] (२, ५, ६) के अनुसार, अज सभी पशुरूपों का प्रतिनिधित्व करता है—इसमें पुरुष के श्मश्रु, अश्व का शिर, गर्दभ के कान, कुत्ते के रोम, गो के अगले पैर और भेड के पिछले पैर हैं; अतः अज में सभी पशुरूप आ जाते हैं और अज उन सब का प्रतिनिधित्व कर सकता है। सिंधुघाटी के एकशृंगी[2] पशु में संभवतः ऐसे ही अज-विशेष को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है—उसके निचले जबड़े के नीचे जो गहरी और उभरी हुई रेखायें हैं वे पुरुष की श्मश्रु हैं; शिर की तुलना अश्वशिर से तथा कान को गधे के कान से हो ही सकती है और उसकी रोमावलि, अगले पैर एवं पिछले पैर क्रमशः श्वान, गो, एवं भेड के माने जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यह पशु मुद्राचित्रों में सर्वत्र एक-सा नहीं है, कहीं श्मश्रुविहीन चिकने सींग और चिकनी गर्दन वाला[3] है, तो कहीं श्मश्रुयुक्त खुरदरे सींग तथा खुरदरी गर्दनवाला[4] है; कहीं उसके ऊपर एक पक्षी चित्रित[5] है और कहीं दो पक्षी[6]। प्रायः सर्वत्र इस पशु के आगे एक दंडारूढ त्रिभुज के ऊपर चतुर्भुज अथवा पिरामिड-सा रक्खा हुआ है, परन्तु कम से कम दो चित्रों[7] में यह चिह्न बिल्कुल नहीं है। एक स्थान पर इसके बदले[8] केवल दंडारूढ़ त्रिशूल और एक अन्य स्थान[9] पर इस त्रिशूल के ऊपर चतुर्भुज भी रक्खा हुआ है। इस विविधता का अभिप्राय यही हो सकता है कि यह एकशृंगी पशु सर्वत्र एक ही पशु का प्रतिनिधित्व नहीं करता, अथवा विभिन्न स्थानों पर उसका अर्थ भिन्न-भिन्न है। यही बात वैदिक अज के लिये भी कही जा सकती है। उदाहरण के लिये, उपर्युक्त श्वेताश्वतर-उपनिषद् के श्लोकों में अज को पुरुष माना गया है और अथर्ववेद में वह कहीं पाँच प्रकार का ओदन

---

(१) सर्वेषां वा एष पशूनां रूपाणि प्रति. पुरुषस्येव श्मश्रूणि. अश्वस्येव शिरो, गर्दभस्येव कर्णौ, शुन इव लोमानि, गोरिव पूर्वौ पादौ, अवेरिवापरौ, अजः खलु वै सर्वाण्येव पशूनां रूपाण्या स्वऽवरुन्धे । सर्वाण्येव पशूनां रूपाण्युपतिष्ठन्ते ।

(२) मुख्यत: देखिये MIC., Pl. CV., seals No. 46; 66; 102. (आ० १४ से १६)

(३) वही ६७, ६६, ६५. ५६ इत्यादि (आ० १७ से २०)

(४) वही ४६, ६६, १०२, ६१ इत्यादि । (आ० १४ से १६ तथा २१)

(५) वही Pl. CVI, 93 (आ० २२) ।

(६) वही Pl. CIV 36 (आ० २३)

(७) वही Pl. CVI. 93 (आ० २२) CX., 274 (आ० २४)

(८) वही Pl. CVIII. 167 (आ० २५)

(९) वही Pl. CIX. 221 (आ० २६)

खाने वाला (पञ्चौदन)[1] है, तो कहीं वह स्वयं अग्नि है[2], कहीं तृतीय ज्योति[3] और कहीं विश्वरूप[4]। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रंथों में 'अज' वाक् (श० ब्रा० ७, ५, २, २१) है, ब्रह्म है (श० ब्रा० ६, ४, ४, १५) और है आग्नेय अथवा अग्निषोमीय (श० ब्रा० ६, ४, ४, १५; गो० उ० ३, १९; तां० ब्रा० २१, १४, ११) क्योंकि अज के भीतर उन सभी पशुओं का रूप[5] है जो वाक् ब्रह्म आदि के प्रतीक माने गए हैं।

अत एव इस एकशृंगी पशु (अज) के प्रतीक के अन्तर्गत उस में समाविष्ट अन्य चिह्नों के हेरफेर द्वारा उन सभी कल्पनाओं को मूर्तरूप देना सम्भव था जो अन्य पशु-प्रतीकों द्वारा व्यक्त की जा सकती थीं। उदाहरण के लिए सिन्धुघाटी के दो ऐसे मुद्राचित्रों[6] को लेते हैं जिनके ऊपर एक ही लेख है 'वृत्र' या 'वृत्रहा'[7]; परन्तु एक में एकशृंगी पशु (अज) का चित्र है और दूसरे में एक द्विशृंगी वृषभ में लम्बी उठी हुई पूँछ तथा एक लटकती हुई सूंड भी दिखाई गई है। इसकी तुलना-स्वरूप ऋग्वेदीय अग्नि के दो चित्र ले सकते हैं जिनमें से एक में (६, ६०, १३) वह एकशृंगी पशु है जिसकी हनु तीक्ष्ण तथा जबड़े सुंदर हैं और दूसरे (१, १४०, २) में वह विचित्र पशु है जो अपने एक मुख से वृषा तथा दूसरे से वृक्षों को खाने वाला हाथी (वारण) बन जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में अग्नि अथवा प्रजापति को कभी अश्व (श० ६, ३, ३, २२; १३, १, १, १; तै० १, १, ५, ५; ३, २, २, १) कभी श्वेत अश्व (श० ३, ६, २, ५; ६, ३, ३, २२; तै० ३, ९, २१, ४; ३, ९, २२, १-२); कभी उष्ट्रमुख अश्व (श० ब्रा० ७, ३, २, १४) तथा कभी अज के अतिरिक्त अज वृषभ (श० ५, २, १, २४) के प्रतीक द्वारा भी व्यक्त किया गया है क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वैदिक प्रतीकवाद में अश्व भी शृंगवाला हो सकता है और अज में भी अश्वरूप का समावेश है।

---

(१) अ० वे० ९, ५, ८।
(२) अजोऽग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीविता ब्रह्मणे देयमाहुः (अ० वे० ९, ५, ७)
(३) एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं (अ० वे० ९, ५, ११)
(४) अ० वे० ९, ५, १९-२१।
(५) अजे हि सर्वेषां पशूनां रूपम् (श० ब्रा० ६, ५, १, ४)
(६) MIC. Pl. CXII. 378, (आ० २८) CIX 252 (आ० २७)
(७) देखिये 'वर्णमाला'।

अन्नाद अग्नि

अब प्रश्न यह रह जाता है कि सिन्धुघाटी के मुद्राचित्र में स्थित दोनों एकशृंगी पशु किस के प्रतीक हैं ? इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वृक्ष पशु का अन्न (भोजन) है अतः उपनिषद् के आधार पर यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि इन दोनों में से एक अन्नाद[1] (भोजन को खाने वाला) है। उक्त मुद्राचित्र (सं० ८) में नीचे दो कोनों पर जो लिपिचिह्न हैं, उनसे भी यही संकेत मिलता है कि इस चित्र में अन्नाद और अन्न, भोक्ता और भोग्य दोनों का समन्वय किया गया है। बायें कोने पर स्थित चतुर्भुज अपने में निम्नलिखित प्रतीक छिपाए हुए है—

(१) एकत—इसका प्रतीक चतुर्भुज का अविभक्त अर्द्धांश है।
(२) द्वित—इसका प्रतीक दो समान भागों में विभक्त उसका द्वितीय अर्द्धांश है।
(३) त्रित—इसका प्रतीक द्वित और एकत प्रतीकों के संयुक्त रूप से बनता है।
एकत, द्वित और त्रित को एक ही चतुर्भुज के भीतर रखने का यह अभिप्राय है कि यहाँ इन तीनों का एकत्रित रूप दिखाया गया है जिसमें उक्त तीनों रूप व्याकृत होकर भी एकगत हैं। तीनों रूप परस्पर पृथक् नहीं हुए, इस कल्पना को व्यक्त करने के लिए उक्त चतुर्भुज के पास ही एक दंडारूढ[2] त्रिभुज भी बना है जिसमें दंड 'अ' का द्योतक है और त्रिभुज 'त्रि' का है। इस प्रकार बने हुए शब्द 'अत्रि' का साधारण अर्थ हुआ 'तीन नहीं' परन्तु ब्राह्मणग्रंथों ने इसकी व्युत्पत्ति अद (खाना) धातु से करके इसमें अत्ता (खाने वाला) के श्लिष्टार्थ[3] का भी समावेश कर दिया है। अत्रिसूचक चिह्न के साथ ही पास में 'अग्नि' शब्द[4] भी लिखा है; अतः कुल मिला कर तीनों चिह्न का अर्थ हुआ 'एकत्रित अत्ता (अत्रि) अग्नि'। ब्राह्मणों में अग्नि के इसी रूप को अन्नाद भी (तै० २, ५,७, ३) कहा गया है और वह अङ्गार, अर्चि तथा धूम-रूप में त्रिवृत् (कौ० २८,५; श०६,३, १,२५) भी है। इसी कल्पना को आध्यात्मिक रूप देने पर,

(१) तु० क० तयोरन्यो पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अथवा अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते। (श्वे० उ० ४, ५-६)।
(२) देखिये 'संबंधित लिपि-चिन्ह'।
(३) अत्तिर्हि नाम एतद् यदत्रिरिति (श० १४, ५, २, २); स वै यः सोऽत्ताऽग्निरेव सः(श० १०, ६, २, २)
(४) देखिये 'वर्णमाला'।

आत्मा को वाक्, मन तथा प्राण की दृष्टि से त्रिविध माना[1] जाता है और क्रमशः शारीर, तेजोमय तथा अमृतमय कहा जाता है[2] अथवा शुद्ध भौतिक रूप (बहिरात्मा) में दक्षिण पक्ष, उत्तर पक्ष तथा पुच्छ की दृष्टि से त्रिवृत माना जाता है। यह आत्मा अग्नि (तै० ३,१०,११,१) सिन्धुघाटी के मुद्रा-चित्रों में जब त्रिवृतरूप में चित्रित किया जाता है तो उसके तीन शिर होते हैं (आ० ३०) जिनमें से एक कभी एकशृंगी पशु का भी होता है और कभी तीनों हो द्विशृंगी होते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस चित्र पर सात का अंक सात अन्नों का तथा 'अत्रि' शब्द अन्नाद अग्नि का सूचक है। एक दूसरी दृष्टि से सर्वतोमुख अन्नाद[3] अग्नि के सभी ओर मुख होते हैं (श० २,६,३,१५) और आत्मा को षड्विध[4] कहा है (कौ० २०,३); इसी दृष्टि से सिन्धुघाटी में छःमुखवाले पशु-चित्र[5] (आ० २६) भी मिलते हैं जिनमें यद्यपि मुद्रा त्रुटित हो जाने से सभी मुखों को पहिचानना कठिन है, परन्तु अनुमानतः उक्त त्रिवृत अग्नि के चित्र में जो तीन शिर दिखाए गए हैं उनके अतिरिक्त सर्वतोमुखरूप में चीता, भैंसा और गैंडा के शिर और सम्मिलित किए गए[6] हैं। इसी चित्र का रूपान्तर एक अन्य मुद्रा[7] पर भी मिला है जिसमें पूरा शिर तो केवल एकशृंगी पशु का ही बन पाया है परन्तु अन्य पाँच शिरों के स्थान पर उभरे हुए पाँच अङ्क दिखाये गये हैं। इस चित्र की एक विशेषता यह है कि इसमें एकशृंगी शिर के नीचे ११ का अंक बना है और शेष पाँच स्थानों पर क्रमशः डेढ़ उकार, अयज अग्नि, वृत्र तथा इंदु शब्द[8] लिखे हैं। इन छः में से इंदु का वृत्र, अग्नि का अयज और सम्भवतः

(१) एतन्मयो वाऽअयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः (श० १४, ४, ३, १०)।

(२) यश्चायमध्यात्मं, शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव, सयोऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् (श० १४, ५, ५, १)।

(३) सर्वतोमुखोऽयमग्निः। ततो ह्य ष कुतश्चाग्नावभ्यादधति तत एव प्रदहति। तेनैष सर्वतोमुखस्तेनान्नादः (श० २, ६, ३,, १५)।

(४) षडङ्गोऽयमात्मा षड्विधः (कौ० २०, ३)।

(५) MIC, Pl. CXII, 383 (आ० २६)।

(६) तु० क० K.N. Shastri, The New Light on Indus Civilization. Vol. II, P. 119.

(७) Mackey; E., furthr Excavations, Vol. II, Pl. XCVIII, 641 (आ० ३१)।

(८) देखिये 'वर्णमाला'।

वायुसूचक* डेढ़ उकार का ११ अङ्क आवरक है। इसी प्रकार सम्भवतः उक्त छः पशुओं में से भी तीन क्रमशः उकार अग्नि तथा इन्दु के प्रतीक हैं और शेष तीन क्रमशः उनके आवरकों के।

सर्वतोमुख अग्नि के उक्त दो चित्रों में से पूर्वचित्र में सभी छः मुख एक ऐसी हृदयाकार वस्तु से जुड़े हैं जिसको ब्राह्मणग्रंथों की 'उखा' कह सकते हैं। उखा साधारण भाषा में एक यज्ञपात्र है जो अग्नि का प्रतीक है और आत्मा के अग्निरूप होने से आत्मा[1] का भी। शरीर में 'उदर' का नाम भी उखा[2] था, उसीके अनुकरण पर उखा-नामक यज्ञपात्र बना था। उदर से अभिप्राय हृदय से ही रहा प्रतीत होता है। हृदय ही शरीरगत यज्ञ का केन्द्रस्थान है जिसमें मूर्धा, मन, श्रोत्र, वाक्, शरीर, रेतस् (तै० ब्रा० ३, १०, ६, ४–६) और आत्मा (श० ३, ६, ३, ८) भी आश्रित बताये गए हैं; इसी लिए हृदय के प्रतीक उखा-नामक यज्ञपात्र को भी अग्नि का पर्व[3], यज्ञ का शिर[4] तथा योनि[5] कहा गया है। महाभारत में अग्नि (आत्मा) तथा उखा के सम्बंध को स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि अग्नि नित्य है और उसका प्रतीक उखा[6] उससे भिन्न है। अतः सिन्धुघाटी के उक्त चित्र में वह हृदयाकार वस्तु जिससे सभी छः शिर जुड़े हुए बताए गए हैं वह उखा ही है। इसी उखा के दो भाग होकर सिन्धुघाटी के दो वकार बन जाते हैं जो आत्मज्योति के दो खंड प्रतीत होते हैं—एक वरुण और दूसरा वृत्र। इनमें प्रत्येक को आगे अर्द्ध-उखा कहा जाएगा। इन्हीं दो खण्डों को आकृति ८ में दो सग्रीवशिरों की अर्ध-उखात्मक ग्रीवाभंग द्वारा व्यक्त किया गया है। अतः प्रश्न होता है कि सिन्धु-घाटी के सर्वतोमुख चित्र में जो छः शिर दिखाए गए है वे भी कहीं इन्हीं दोनों से किसी प्रकार सम्बन्धित तो नहीं हैं ?

बृहदारण्यक-उपनिषद् की सहायता से इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है। इस उपनिषद में सात अन्नों और चार धनों का उल्लेख है

(*) अध्यर्द्धो वायुः।
(१) आत्मैवोखा (श० ६, ५, ३, ४; ६, ६, २, १५)
(२) उदरम् उखा (श० ७, ५, १, ३८)
(३) पर्व एतदग्नेर्यदुखा (श० ६, २, २, २४)
(४) शिर एतद् यज्ञस्य यदुखा (श० ६, ५, ३, ८; ६, ५, ४, १५)
(५) योनिर्वाऽउखा (श० ७, ५, २, २)
(६) अन्यो हि अग्निः उखाप्यन्या नित्यमेवमवेहि भोः (म० भा० १२, ३, १५, १५,)

(१, ४, १७; १, ५, १-३) इन्हीं को सूचित करने के लिए ग्यारह का अंक सर्वतोमुख पशु-चित्र[1] के नीचे लिखा है और यही अंक चित्र ८ के नीचे दाहिनी ओर है जिसके पास चतुष्कोण के भीतर सात अन्न और चार वित्तों के द्योतक लिपि-चिह्न[2] हैं। चित्र ८ के वृक्ष-चित्र में इन्हीं ग्यारह की अन्नवित्त-समष्टि को व्यक्त करने लिए सात बड़ी पत्तियां और चार कोंपलें बनाई गई हैं। सर्वतोमुख[3] चित्र में ग्यारह के अङ्क के नीचे जो पौन वकार का लिपि-चिन्ह बना है उसके भीतर दो का अङ्क यह सूचित करता है कि यहाँ पौन का दूना अर्थात् डेढ़ वायुसूचक[4] वकार अभीष्ट है। 'व' के यही दो पूर्ण लिपि-चिन्ह ८ में एकशृंगी पशुद्वय के दो ग्रीवा-भंगों में समाविष्ट कर दिए गए हैं और दोनों मिल कर सम्पुटरूप में छ:मुखी[5] पशुचित्र में केन्द्रवर्ती उखा का निर्माण करते हैं। इस उखा में दोनों का समावेश होना इसी से स्पष्ट है कि उस चित्र में एक ओर उसी उखा आकृति[6] से विपरीत दिशाओं में निकलते हुए दो वकार दिखाए गए हैं। अतः आ०-३२ में एकादशी अन्नवित्त समष्टि के साथ ही दो संयुक्त सग्रीव-शिरों को ग्रीवाभंगिमाओं द्वारा जो संयुक्त वकार चित्रित किए गए हैं वे वही हैं जो छ:-मुखी[7] चित्र में ग्यारह के अङ्क के नीचे वायुसूचक डेढ वकार के रूप में खण्डशः दिखाए गए हैं।

इस विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धुघाटी में उपनिषद्-परम्परा की एकादशी अन्नवित्तसमष्टि को त्रिवर्णा अजा (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) के स्थूल विकसित रूप को सपर्ण वृक्ष द्वारा इंगित किया जाता था और उसी का ज्योतिर्मय सूक्ष्म रूप दो अर्द्ध उखाओं के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया जाता था। बृहदारण्यक-उपनिषद्[8] की उक्त एकादशी अन्नवित्त समष्टि में सूक्ष्म अन्न तीन माने गए हैं और वे हैं वाक्, मन और प्राण या इन्द्र जिन्हें प्रजापति ने अपने लिए सुरक्षित रक्खा है; इन्हीं के संयोग से आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय होता है।

---

(१) MFE. Vol. II Pl. XCVIII, 641 (आ० ३१)
(२) देखिये अंत में वर्णमाला।
(३) MFE. Vol. II Pl. XCVIII, 641 (आ० ३१)
(४) यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोतितेनाध्यर्ध इति (श० १४, ६, ९, १०) तु० क० अर्धं ह प्रजापतेर्वायुरर्धं प्रजापतिः (श० ६, २, २, ११)
(५) MIC. Vol. III. Pl. CXII, 383 (आ० २९)
(६) आ० २९।
(७) आ० ३१।
(८) १, ५, ३।

इन्हीं को विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात कहा गया है[१]। इन तीनों की ज्योति का नाम क्रमशः अग्नि, आदित्य तथा इंदु है और इनके शरीर क्रमशः पृथिवी, द्यु तथा आपः कहे जाते[२] हैं। सिन्धुघाटी के छःमुखी चित्र में (आ० ३१) जो छः नाम मिलते हैं उनमें से ३ तो इन्हीं तीन ज्योतियों के प्रतीत होते हैं और इनमें से प्रत्येक के साथ एक अन्य नाम उस ज्योति को आवृत रखने वाले शरीर का है। अतः इंदु ज्योति का आवरणशरीर वृत्र, अग्नि का अयज तथा आदित्य (वायु) (जिसे दो पौन वकारों द्वारा व्यक्त किया गया है) का एकादशी अन्न-समष्टि (अङ्क ११) बतलाया गया प्रतीत होता है। इनमें से आदित्य[३] (वायु) ही अत्ता, अत्रि या अन्नाद अग्नि है, इसीलिए वह अन्नवित्तसमष्टि से घिरा हुआ बताया गया हैं; यही भोक्ता (जुषमाणः) अज तथा पिप्पली खाने वाला सुपर्ण के रूप में वर्णित अज्ञ अनीश[४] पुरुष है। इसके विपरीत अयज से आवृत होने वाली अग्नि ज्योति अनाहारी अज या सुपर्णरूप में वर्णित ज्ञ और ईश पुरुष[५] है जिसे इसका ज्ञान तो है कि अजा (प्रकृति) को भोगा जा रहा है (अन्न को खाया जा रहा है), परन्तु वह स्वयं उसे नहीं भोगता, केवल देखता है। इन दोनों ज्योतियों को संयुक्त ज्योति इंदु (सोम)[६] है जो उपनिषद् में इन्द्र (प्राण) के अन्तर्गत मानी गई है और सिन्धुघाटो में जिसके आवरक शरीर का नाम वृत्र बताया गया है। इसी अवस्था को इंगित करते हुए ब्राह्मण-ग्रंथों में इंदु अथवा सोम को वृत्र[७] कहा गया है।

सिंधुघाटी में उक्त तीनों ज्योतियाँ अपने-अपने शरीरों से आवृत पुरुष रूप में चित्रित की गई हैं। हड़प्पा[८] की एक तिपहली मुद्रा पर तीन पुरुषों के चित्र हैं जिनमें से एक शिरहीन होने से 'अज्ञ' पुरुष अन्नाद का प्रतीक लगता है, दूसरा हस्तरहित होने से अकर्ता तथा शीर्षस्थानीय 'क' वर्ण से 'ज्ञ' पुरुष का प्रतीक

---

(१) बृ० उ० १, ५, ४-१०।
(२) वही १, ५, ११-१३।
(३) तु० क० आदित्य की माता अदिति की व्युत्पत्ति "सर्वं वा अत्ति इति तददतेरदितित्वम् (श० १०, ६, ५, ५); अत्रि = अदिति (श० १, ४, ५, १३)
(४) श्वे० उ० ४, ५-७; १, ९।
(५) वही।
(६) सोमो वाऽइन्दुः (श० २, २, ३, २३; ७, ५, २, १९; सोमो वै राजेन्दुः ऐ० १, २९)
(७) वृत्रो वै सोम आसीत् (श० ३, ४, ३, १३; ३, ९, ४, २; ४, २, ५, १५) अथैष वृत्रो यच्चन्द्रमा (श० १, ६, ७, १३; १८)
(८) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCIII, 305 (आ० ३३)

है; और तीसरा संपूर्णपुरुष होने से तथा अपने दोनों हाथों की मोड़ों द्वारा दो उकारों को सृष्टि करने से उक्त दोनों पुरुषों की ज्योतियों का संयुक्त रूप प्रतीत होता है। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इन तीनों पुरुषों के साथ आवरक वृत्र का लिपिचिन्ह है, परन्तु जहाँ पहले एवं दूसरे पुरुष के साथ समूचा वृत्र-चिन्ह है, वहाँ तीसरे के साथ आधा ही वृत्र-चिन्ह रह जाता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि उपनिषद् तथा चित्र में तीनों ज्योतियों के शरीरों के जो भिन्न-भिन्न नाम बतलाये गये हैं वे वस्तुत: वृत्र-तत्त्व के ही रूपांतर-मात्र हैं। जो ज्योति जितनी अधिक तेज होगी आवरक वृत्र का आवरण उतना ही कम होगा, इसीलिये तृतीय पुरुष में आवरक वृत्र का अर्द्धांश ही है, क्योंकि इसके भीतर अन्य दोनों को ज्योतियों का एकत्र होना उसके दोनों हाथों की मोड़ों से बने दो उकारों से प्रकट होता है। इन्हीं तीनों पुरुषों के चित्र एक दूसरी मुद्रा[1] पर एक अन्य प्रकार से मिलता है। यहाँ चौकी पर एक पुरुष योगासन में बैठा हुआ है जिसके दोनों ओर दो नग्नपुरुष अपनी-अपनी ज्योति का प्रतीक (आ० ३५) उकार भेंट कर रहे हैं। इन दोनों पुरुषों के पीछे जो एक-एक अहि अपने फण को छाया सा करता हुआ खड़ा है वह उसी वृत्र का प्रतीक है जो पूर्व चित्र (आ० ३४) में उन दोनों के साथ सम्बद्ध बताया गया है क्योंकि अन्यत्र[2] दोनों सर्पों का चिह्न बनाकर साथ ही 'मन वृत्रापो द्वौ' लेख भी मिलता है, और इसी चित्र के पोछे 'उ वृत्रहा' लिखा है और उससे नीचे एक उड्डोयमान श्येन समान मुख वाला अज है जो तृतीय पुरुष का प्रतीक लगता है। इसी की तुलना एक अन्य चित्र[3] से की जा सकती है जिसमें एक ओर 'मन वृत्राप' लेख के साथ दो सर्प हैं और दूसरी ओर अन-अन के बीच 'उ अत्रि' लिखा है। तृतीय पुरुष के शिर के ऊपर दो उकार संयुक्त रूप में दिखाये गये हैं; इससे स्पष्ट है कि वह अन्य दो पुरुषों का संयुक्त रूप है। इस पुरुष के आसन के नीचे दो मेंढ़े खड़े हुये हैं जो अन्य चित्रों में उक्त दो पुरुषों से संबद्ध दिखाये गये हैं। ये दोनों मेंढ़े क्रमश: अज्ञ और ज्ञ-पुरुष के मन के प्रतीक हैं। समस्त चित्र को समझने के लिये इसके ऊपर 'वृत्रद्वय त्रिवृत अकार' लिखा है, जिसमें से वृत्रद्वय से अभि-

---

(१) MFE., Pl. CIII, seal 9, (आ० ३४); MIC., Pl. CXVIII, seal VS. 210 (आ० ३५)

(२) MFE., Pl. CI, seal 11—a,b.

(३) MFE. Pl. 15; a-b (आ० १०)

प्राय दो सर्पों से है और त्रिवृत अकार पुरुषत्रय का द्योतक है। एक चित्र[1] में ११ पीपल-पातों से युक्त वकार (जो कि वरुण का प्रतीक है) के नीचे इन्द्र खड़ा है और उसके सामने अपने चक्षुहीन,नग्न,मन-मेष को पीछे किये हुये अज्ञ पुरुष नग्नावस्था में हाथ जोड़ता तथा गिडगिड़ाता-सा है; सम्भवतः इसी अनुनय-विनय के फलस्वरूप उसे पांच पत्तियों का वकार (वरुण) मिल जाता है जिसके नीचे वह चित्र ३७ में हृष्टपुष्ट (उक्त दोनावस्था से विपरीत) दिखाई देता[2] है और एक अन्य चित्र[3] में शिर पर त्रिशूल धारण करके अपने नग्न अंधे मेंढ़े को अष्ट-पर्ण वकार के भीतर स्थित त्रिशूलधारी देव के सामने अपने नग्न, अंध मन-मेष को करके ऊपर खड़े हुये छः पुरुषों (जो पाँच कर्मेन्द्रियों सहित वाक् के प्रतीक हैं) को दोनों हाथ उठाकर बुलाता हुआ अन्नपूर्णा प्रकृति को भोगने के लिये आह्वान-सा करता है।

इससे विपरीत एक अन्य चित्र[4] में एक छः पत्रों वाले वकार के भीतर स्थित त्रिशूल वषटधारी व्यक्ति के पास त्रिशूलवषट्धारी पुरुष झुका हुआ एक पत्ते को स्पर्श कर रहा है और उसका पुरुष-मुखी मन-मेष स्थिर-भाव से अपने आयत नेत्र से देख रहा है। पूर्व-पुरुष के नेत्रहीन मेष के विपरीत आयतनेत्र-मेष से संबद्ध यह पुरुष स्पष्टतः द्रष्टा प्रतीत होता है; इसीलिये इसके पास खड़े हुये सात पुरुष पंचज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि के प्रतीक समझे जा सकते हैं और देव के आवरक वकार की छः पत्तियाँ मन-सहित छः ज्ञानेन्द्रियों के विषय हो सकते हैं। सिंधुघाटी की एक अन्य मुद्रा[5] (आ० ३९) में भी ये सप्त पुरुष चित्रित प्राप्त हुये हैं जहाँ पर घ्र, र, च, त, व, श्र और म क्रमशः घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, वाक्, श्रोत्र तथा मन के सूचक हैं। यह चित्र ऋग्वेद के तौग्र्योपाख्यान (१, १८२, ५८) में भी प्राप्त होता है। वहाँ[6] उस वृक्ष को जानने की इच्छा

(१) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCIII, 316 (आ० ३६)
(२) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCIII, 317 (आ० ३७)
(३) MIC, Plate CXVI, 1 (आ० ३८)
(४) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate XCIX, A Plate XCIV, 430, (आ० ३८)
(५) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCI, 25 (आ० ३९)
(६) कःस्विद् वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसोयं तौग्र्यो नाधितः पर्यषस्वजत्। पर्णा मृगस्य पतरोरिवारभे उदश्विना ऊहथुः श्रोमताय कम्। तद् वां नरा नासत्यावनुष्याद् यद् वां मानास उक्थमवोचम् (ऋ १, १८२,७-८)

प्रकट की गई है जो 'अर्णस' के मध्य में स्थित है और जिसका तौग्र्य ने परिष्व-जन किया (परिषस्वजत्) है; इसी प्रसंग में एक ऐसे मृग का भी उल्लेख है जिसके पत्तों के समान किसी व्यक्ति को अश्विनौ ले आते हैं और कुछ ऐसे व्यक्तियों (मानासः) की ओर संकेत है जो अश्विनौ की स्तुति, संभवतः इसी कार्य के लिये करते हैं। स्पष्ट है कि सिंधुघाटी के मुद्राचित्र में चित्रित पीपल-वृक्ष ही ऋग्वेद का रहस्यमय वृक्ष है और उसमें परिवेष्टित पुरुष ही तौग्र्य है; इसी प्रकार वहाँ के मेष को ऋग्वेद का मृग तथा उसके सामने झुका पुरुष ही ऋग्वेद का वह व्यक्ति है जिसे अश्विनौ ले आते हैं। मुद्राचित्र के सप्त पुरुष ही ऋग्वेद के 'मानास.' समझे जा सकते हैं। यहाँ पर तौग्र्य तृतीय पुरुष प्रतीत होता है जिसके लिये अश्विनौ (अ और अज्ञ पुरुष) मानव-शरीररूपी नाव (प्लवं) बनाते हैं जिसको 'आत्मन्वन्तं पक्षिणं'[1] (आत्मा से युक्त पक्षी) कहा गया है। इस नाव की तुलना सिन्धुघाटी[2] के (आ० ४०) उस मयूर-चित्र से कर सकते हैं जिसके भीतर एक पुरुष (आत्मा) की आकृति भी दिखाई गई है। जठल (जठर[3]) की जो चार[4] नावें अश्विनौ द्वारा प्रेरित होकर इस तौग्र्य को अर्णव से पार करती हैं वे संभवतः आनन्दमय पुरुष के क्रमशः विज्ञानमय, मनो-मय, प्राणमय और अन्नमय कोश हैं जिनका वर्णन तैत्तिरीय-उपनिषद्[5] में पक्षधारी पुरुषों के रूप में किया गया है। षड्विंशब्राह्मण[6] के अनुसार पुरुषरूप आत्मा (इंद्र) के पूर्व पक्ष और अपर पक्ष को ही इंद्र के हरी कहा जाता है और अन्य ब्राह्मणों के अनुसार भी इन्हीं पक्षों के कारण आत्मा को पक्षी[7] भी कह सकते हैं। हड़प्पा[8] से प्राप्त अस्थि-कलशों पर एक उकार चित्रित होता है जिसको ऊपर आत्म-ज्योति का प्रतीक बताया गया है। उसके ऊपर बने हुये मयूर

---

(१) युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्तं पक्षिणं तौग्र्याय कम्। (१, १८२, ५)

(२) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate LXII 2.

(३) तु० क० अग्निर्वै देवानां जठरम् (तै० २,७,१२,३) मध्यं वै जठरम् (श० ७,१,१,२२)
इससे स्पष्ट है कि जठर की नावें आन्तरिक वस्तुयें हैं।

(४) अवविद्ध तौग्र्यमप्स्वन्तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्।
चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टा उदश्विभ्यामिषिताः पारयन्ति (१, १८२, ६)

(५) तै० उ० २, २–६।

(६) पूर्वपक्षावरपक्षौ वा इंद्रस्य हरी। ताभ्यां हीदं सर्वं हरति (ष० १, १)

(७) श० १, १, ६; ८,७,२, ३; तां० ६, ४, ८; ऐ० २, २४; तै० १, ६, ३, ६०.

(८) देखिये K.N. Sastri, New Light on the Indus Civilization, Vol. II पृ० १५–२०।

पक्षियों से प्रकट है कि इस आत्म-ज्योति को वहन करने वाले अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश ही पक्षीरूप नाव कहे जाते थे जिनका आश्रय लेकर आत्म-ज्योति मृत्युरूपी अर्णव को पार करके पुनर्जन्म प्राप्त करके अन्य स्थूल शरीर को ग्रहण करती थी। आत्म-ज्योति के साथ उसके कर्तृपक्ष और ज्ञातृपक्ष संभवतः सूक्ष्मरूप में सर्वथा संयुक्त माने जाते थे; यही अश्विनौ अथवा इंद्र के हरी हैं जो उसको ले जाने वाले हैं और इन्हीं के प्रतीकस्वरूप दो सग्रीव एक-शृंगी शिर चित्र ८ के वृक्ष पर दिखाये गये हैं। अतः ये दोनों शिर उसी आत्मज्योतिरूपी अश्व अथवा अज[1] के माने जा सकते हैं जिसका उल्लेख ब्राह्मणों और उपनिषदों में वृक्षरूप में भी प्रस्फुटित होता[2] बताया है।

अश्वत्थ-वृक्ष

इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि मानव-शरीर ही वृक्ष है और उसमें परिवेष्टित पुरुष आत्मा का एक रूप है जो कर्मेन्द्रियों ज्ञानेन्द्रियों के सन्दर्भ में अज्ञ (कर्ता) तथा ज्ञ (ज्ञाता) रूप में द्विविध हो जाता है। यह वृक्ष स्वयं प्रकृति-निर्मित है और पुरुष के द्विविध रूपों को अन्नवित्तरूपा भोग-सामग्री प्रस्तुत करता है जिसे वृक्षों के पत्तों के रूप में दिखाया जाता है। क्रिया और ज्ञान दोनों के लिये इच्छा-शक्ति की अनिवार्य आवश्यकता होती है, अतः कर्ता और ज्ञाता के संयुक्त रूप को तृतीय पुरुष (इंद्र या प्राण) माना गया है जो उक्त वृक्ष द्वारा परिवेष्टित रहता है और उपनिषद् के अनुसार अपने में इंदु और आपः को समाविष्ट किये हुये है। प्रकृति पुरुष के लिए वरुणत्व भी देती है और वृत्रत्व भी। वरुण-रूप में वह सहायक है और वृत्र-रूप में आवरक या बाधक होकर बंधन पैदा करती है। वृत्ररूप से प्रभावित होकर पुरुष के कर्ता और ज्ञाता-पक्ष परस्पर संघर्ष करते हैं (कौरव-पांडव का युद्ध होता है) इन दोनों के प्रतीक दो चीते हैं जिनका दमन करने में आत्मा (तृतीय पुरुष) भी तभी समर्थ होता है जब वह अपने शिर पर सूर्य का तेज धारण करता है, जैसा कि एक मुद्रा[3] चित्र में दिखाया गया है। इसका कारण है कि सूर्य-तेज परमात्मा की सर्वज्ञता और सर्वशक्ति-मत्ता का प्रतीक है जिसको प्राप्त करके ही आत्मा वृत्र को अपना दास बना कर अपना सहयोगी बना लेता है। एक अन्य चित्र[4] में इसी विचार को व्यक्त करते

(१) ऐ० ब्रा० १०, ६, ४, १; १, ४, १, ३० इत्यादि।
(२) यद्येनत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयात् जायेरन् एव अस्मिन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि (छा० उ० ५, २, ३)
(३) MFE.' Plate LXXXIV, seal 75.
(४) वही, Plate CI, seal 1—ab.

एक संश्लिष्ट वर्ण प्रस्तुत किया गया है जिसमें 'अन' शब्द के ऊपर वृत्र और दायें बायें 'वरुण' सूचक अपद्वय तथा मन सूचक मकारद्वय लिखा है। वृत्र का सहयोग प्राप्त कर लेने से वृत्र के प्रतीक गेंडा और चीता शांत होकर खड़े हैं; इसी बात को संकेत करते हुए तृतीय पुरुष सम्भवतः अन्नमय पुरुष के प्रतीक गौर को चित्र में शान्त करते हुए नांद में रखे पेय को पिला रहा है। यह तुरीय पुरुष ही ब्राह्मण-ग्रंथों का प्रजापति[1] (अग्नि)[2] है जो अश्व (प्राण या इंद्र) होकर वृक्ष में प्रवेश करता है और जिसके फलस्वरूप इस वृक्ष को अश्वत्थ कहा जाता है। शरीर-वृक्ष में प्रविष्ट हुये इस अश्वरूप प्रजापति में सभी देवता[3] समाविष्ट हैं और इसीलिए अश्व को वैश्वदेव[4] कहा जाता है और इस रूप में अग्नि सब देवों तक यज्ञ को वहन करने वाला कहा जाता[5] है। इस प्रकार इसी की शक्ति से शरीरस्थ इन्द्रियादि देवता शक्तिमान् होते हैं।

अश्वत्थ-वृक्ष की गौ

प्रजापति की जो शक्ति अश्वत्थ-वृक्ष (शरीर) के देवताओं को शक्तिमान् करती है उसका नाम गौ है। प्रजापति[6] उसका निर्माण प्राणों की सहायता से करता हैं। यह गौ अजस्र सोमरूप (श० ७, ५, २, १६) होने से सब देवताओं को शक्ति का स्रोत है और वैश्वदेवी[7] कहलाती है। यह गोरूप शक्ति ही इंद्र-रूपी आत्मा का वज्र है जिसे सूर्य-लोक से प्राप्त हुआ बताया जाता है और जो प्रत्येक शरीररूपी वृक्ष में नियत गौ होकर पुरुष (आत्मा) को खाने वाले पक्षियों के लिये भयहेतु[8] बना हुआ है। ब्राह्मणग्रंथों[9] के अनुसार गौ के द्वारा ही देवों ने असुरों का संहार किया था। सिंधुघाटी में भी एक ऐसा ही पशु है ज शरीरगत सब देवों को मिलाने वाला, उनको शक्ति देने वाला तथा उनके

---

(१) प्रजापतिर्देवेभ्यऽनिलायत। अश्वो रूपं कृत्वा सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत्। तदश्वस्याश्वत्थम् (तै० ३, ८, १२, २)

(२) तै० ३, ८, १२, २.

(३) अश्वे वै सर्वा देवता अन्वायत्ताः (तै० ३, ८, ७, ३)

(४) वैश्वदेवो वा अश्वः (श० १३, २, ५, ४; तै० ३, ६, २, ४; ३, ६, ११, १)

(५) अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति (श० १, ४, १, ३०)

(६) प्रजापति प्राणात् गाम् (निरमिमीत) श० ७, ५, २, ६.

(७) वैश्वदेवी वै गौः (गो० उ० ३, १६)

(८) ऋ० वे० १०,२७, २१–२२।

(९) तां० ब्रा० १६; २, २–३।

शत्रुओं का विनाश करने वाला है। एक मुद्राचित्र[१] में एक ओर तो संभवतः उसके द्वारा मारे गये चीतों (वृत्रों के प्रतीक) का ढेर पड़ा दिखाया गया है और दूसरी ओर पशुओं के रूप में चार वृत्रों को उसके द्वारा आतंकित किया हुआ-सा दिखाया गया है। एक अन्य मुद्राचित्र[२] में यही पशु छः अन्य पशुओं को अपने सींगों, पैरों और पूंछ द्वारा मिलाता हुआ-सा दिखाया गया है। इस पशु का आकार एक महागोधा जैसा है जिसके सींग सिंधुघाटी के उस महावृषभ जैसे हैं जो विश्वरूप ब्रह्म[३] का प्रतीक होता है। सिंधुघाटी की यह गोधा ऋग्वेद[४] की उस गोधा को याद दिलाती है जो उक्त गौ की भांति ही इन्द्र के वज्र का प्रतीक है और जिसके संदर्भ में बद्धनख सुपर्ण, अवरुद्ध सिंह तथा निरुद्ध महिष तथा एक क्षुरनामक हिंसक पशु का उल्लेख हुआ है जो ब्रह्म (प्रजापति) के अन्नों के साथ हिंसा का व्यवहार करते हैं और वृषभों के समूह को खा जाते हैं। निस्संदेह ये चार पशु ब्रह्म के शत्रु होने के कारण वृत्रों के प्रतीक कहे जा सकते हैं और ये गोधा द्वारा उसी प्रकार आतंकित कर दिये गये हैं जिस प्रकार सिंधु-घाटी के मुद्रा-चित्र में। दोनों चित्रों के ब्यौरों में यद्यपि कुछ अंतर है, परन्तु आधारभूत कल्पना एक ही प्रतीत होती है।

गोधा और महिष

मोहेनजोदरो से प्राप्त एक मुद्राचित्र[५] में उक्त गोधा एक चतुर्भुज के भीतर तीन पुरुषाकृतियों और गेंडे के साथ स्थित है और चार अन्य पशुओं को अपने में मिलाती हुई-सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार के एक अन्य चित्र[६] में, एक ओर तो गोधा संभवतः पूर्वचित्र के तीनों पुरुषों और तीन पशुओं को आत्मसात् कर चुकी है और दो अवशिष्ट पशुओं को आत्मसात्-सा कर रही है; दूसरी ओर एक विचित्र आकृति है जिसमें एक वृत्ताकार आकृति में से चारों ओर को

(१) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate XCII, seal 10 (आ० ४१)
(२) वही Plate CIII, seal 16 (आ० ४२)
(३) इस पर विस्तृत विचार आगे किया जायेगा।
(४) १०, २८, १०–११।
(५) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate LXIX, seal 23 and CIII, seal 16 (आ० ४२)
(६) वही, Plate XCII, seal 2a and 2b (आ० ४३)

निकलती हुई-सी सात गर्दनों में से केवल एक पर एकशृंगी पशु का शिर है और साथ में उक्त सात गर्दनों के अतिरिक्त एक गोधा का द्विशृंगी शिर भी दिखाया गया है जिनकी पहिचान के लिये एक उकार और एक वकार लिख दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस समष्टिवर्ग में पूर्व चित्र के पाँच पशु और तीन पुरुष समवेत होकर एकशृंगी पशु और गोधा की अद्वैत इकाई बन गये हैं और इन्हीं दोनों की ओर संकेत करने के लिये इंद्र नामक आत्मज्योति-सूचक उकार और उसकी शक्ति (वरुण) का द्योतक वकार लिख दिया गया है। अतः यह इन्द्रावरुण का प्रतीक है जिसकी तुलना परवर्ती शिवशक्ति-तत्त्व से की जा सकती है। इंद्रावरुण का अद्वैत तत्त्व किस प्रकार वरुण (शक्ति) के प्रभाव से अनेकत्व ग्रहण करता है उसको बतलाने के लिये, एक मुद्राचित्र[1] पर एक ओर वरुण-सूचक वकार लिखा हुआ है और दूसरी ओर एक हाथ बढ़ाये हुये ऊपर उड़ते हुये-से पुरुष का स्वागत करते हुये दो खड़े व्यक्ति दिखाये हैं। इनके पास ही चार संपुट अकार परस्पर जुड़े हुये हैं और उन सब में से होकर एक रस्सी-सी गई हुई है। स्पष्ट है कि ये तीन पुरुष वही हैं जिनको ब्राह्मणों में वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय पुरुष कहा है और जिनकी ज्योति को क्रमशः अग्नि, आदित्य (वायु) और इंदु कहा है; इनके पास स्थित चार संपुट अकार संभवतः वे चार पशु हैं जो ऊपर चित्र में गोधा से जुड़े हुये अथवा आत्मसात् हुये बताये गये हैं और उनमें से होकर जाने वाली रस्सी शक्तिरूपा गोधा अथवा वरुण की प्रतीक है जो उक्त तीनों पुरुषों को इन चार संपुट अकारों में बाँधकर उक्त चार पशुओं (पाशबद्धजीवों) में परिणत कर देती है। यह सारा खेल वरुण का ही है; इसीलिये वहां वकार अंकित कर दिया गया है।

यह वरुण (शक्ति) ही वृत्र रूप धारण कर सकती है और उक्त तीनों पुरुषों को पाशबद्ध पशु बनाने के स्थान पर छिन्न-भिन्न या नष्ट-भ्रष्ट कर सकती है। इसका संकेत एक अन्य[2] मुद्राचित्र से प्राप्त होता है। इसमें एक ओर वृत्रसूचक चिह्न बना है और दूसरी ओर पूर्व चित्र के चार सम्पुट अकारों में से एक के दो टुकड़े हो चुके हैं और दूसरे से रस्सी आधी जा चुकी है तथा अन्य दो में रस्सी अभी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त सारा चित्र उड़ते हुए पक्षियों

(१) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate XCII, seal 1a-b.

(२) वही, plate XCI, seal 12 (आ० ४४)

से भरा है जिन्होंने सम्भवतः तीन में से एक (ऊपर स्थित) पुरुष को खा डाला है और अन्य दो पुरुषों को क्षतविक्षत कर डाला है। इन उड़ते हुए पक्षियों को देख कर ऋग्वेद[१] के उन पुरुषाद पक्षियों की याद आ जाती है जो शरीर-रूपी वृक्ष में 'नियत गौ' के शब्द को सुन कर भाग जाते हैं। यहाँ नियत शब्द सार्थक है; सम्भवतः आत्मशक्ति का एक रूप अनियत भी अभिप्रेत था—एक में वह सर्वथा आत्मा के वश में रह कर संयत अथवा नियत गौ बन कर वरुण है और दूसरे में वह सर्वथा असंयत होकर वृत्र बन जाता है। पहले रूप में वह वशी आत्मा की वशा[२] गौ बन कर सोम (आनन्द) और घृत (ज्ञान-ज्योति) का स्रोत[३] बनती है और यज्ञ एवं सूर्य को ग्रहण तथा धारण करने में समर्थ हो सकती[४] है। परन्तु दूसरे रूप में, वरुण को संयम-रज्जु[५] दुरिष्ट-शमन[६] और स्विष्ट-रक्षा[७] को असम्भव देख कर पाप-पाश[८] के रूप में बदल जाती है जिससे आबद्ध होकर जीवात्मा वृत्र का शिकार बन जाता है—वशा अमृत से मृत्यु में बदल जाती है[९]। इसी कल्पना को मोहेनजोदरो के एक मुद्राचित्र[१०] में मूर्तिमान् किया गया है। वहाँ मृत्यु को एक महिष के रूप में दिखाया गया है जिसके द्वारा पछाड़े हुए दो पुरुष पृथ्वी पर और कम से कम तीन अन्तरिक्ष में झूल रहे हैं। इसके विपरीत एक अन्य चित्र[११] में यही मृत्यु-प्रतीक महिष पालतू पशु हो गया है और उसके सामने कुंड रक्खा है जिसका पेय पीने के पश्चात् वह तृप्तिभाव से शिर ऊपर उठाए हुए है। इसी कल्पना को व्यक्त करते हुए, चित्र के ऊपर समस्तवर्ण 'वृत्रापद्वय-अन' के साथ निर्माण-सूचक 'मा' लिखा है।

---

(१) वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वयः प्रपतान् पुरुषादः (१०, २७, २२)
(२) युवः एकः संसृजति यो अस्या एक इद्वशी (अ० वे० १२, १०, २४)
(३) सोममेनामेकं दुदुहे घृतमेक उपासते (वही १२, १०, २३)
(४) वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णा‍त् वशा सूर्यमधारयत् (वही १२, १०, २५)
(५) वरुण्या वै यज्ञ रज्जुः (श० ६, ४, ३, ८; १, ३, १, १४)
(६) वरुणेन दुरिष्टं (शमयति) तै० १, २, ५, ३।
(७) वरुणः स्विष्ट (पाति) ऐ० ३,३६,७,५।
(८) तै० ३, ३, १०, १; श० ६, ७, ३, ८; वरुणो वा एवं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति श० १२, ७, २, १७; २, ५, २, १०; ५, २, ४, १३; अनृते खलु, वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति (तै० १, ७, २, ६)
(९) वशामेवाऽमृतामाहुर्वशां मृत्युमुपासते (अ०वे० १२, १०, २६)
(१०) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, plate XCVI, seal 510 (आ० ४५)
(११) वही, plate XCVII, seal 587 plate C, seal E (आ० ४६)

इसका अभिप्राय है कि अब वृत्र दोनों 'समुद्रों का जीवन' रूप महिष बन गया अर्थात् अब आत्मा ने मृत्यु-महिष को दास बना लिया है और अब वह मृत्युञ्जय है।

ओंकार-भेद

इस मृत्यु-महिष को जीतने अथवा मारने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि पहले वह विध्वंसविरत हो, जैसा कि चित्र[1] में 'वृत्रंद' नामक महिष से प्रकट है। इसका मार्ग अनेकशः बिखरी हुई आत्मज्योति को त्रिवृत करके एकत्रित करने में निहित है; इसी भाव को चित्र[2] में व्यक्त किया गया है। यहाँ मुद्रा त्रुटित होने से जो ऊपर अवशिष्ट लेख प्राप्त है उसमें 'त्रिवृत इदु' लिखा है और नीचे वही 'एकत्रित' का चिह्न बना है जो आकृति ८ में है। एकत्रित आत्मज्योति या अग्नि त्रिवृत से अत्रि बन जाती है जिसका प्रतीक भाला या तीर है जो इस चित्र में महिष पर गिरते हुए दिखाया गया है।

इस तीर को मृत्यु-महिष पर छोड़ने से पूर्व एक मृग पर छोड़ना पड़ता है। आकृति[3] ४९ में तीन पुरुषों को एक साथ शर-सन्धान करते हुए और मृग को वेधते हुये दिखाया गया है। यह सम्भवतः वही तीन पुरुष हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है और इन्हें जो मृग मारना है वह कामासक्त मन हो सकता है। जिस धनुष से तीर छोड़े जा रहे हैं वह शतपथ ब्राह्मण का वार्त्रघ्न धनुष[4] है जिसके द्वारा लक्ष्यवेध होने पर ही ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में स्थित सारे विघ्न (वृत्र) समाप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् इसी धनुष[5] को लेकर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ 'औपनिषदं महास्त्रं शरं' तल्लीनता-पूर्वक (तद्भावगतेन चेतसा) अक्षर ब्रह्मरूपी लक्ष्य पर छोड़ा जाता है;

(१) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, plate XCIX, seal 663 (आ० ४७)

(२) वही, LXXXVIII, seal 279 (आ० ४८)

(३) वही plate XCI, seal 24 (आ० ४९)

(४) श० ५, ३, ५, २७।

(५) धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासनिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ (मु० उ० २, ३-४)

यहाँ प्रणव धनु है, आत्मा शर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है जिसको वेधने के लिए तन्मयता आवश्यक मानी गई है। वस्तुतः इस शर का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म[1] है जो स्वयं प्राण, वाक् तथा मन-रूप में त्रिवृत् है। अतः यह शर भी त्रिवृत् होता है और इसी को ब्राह्मण-ग्रंथों में समृद्ध वज्र कहा गया है[2]। इसी शर के चलने से वृत्र (माया या अज्ञान) का आवरण छिन्न-भिन्न होकर ज्योतिद्वय के प्रतीक दो उकार प्रकट हो जाते हैं और वृत्र का आवरण एकादशी अन्नवित्तसमष्टि में बदल कर मानवात्मा के लिए सहायक हो जाता है। इसी विचार को एक मुद्राचित्र[3] में व्यक्त किया गया है। इस चित्र के ऊपर एक ओर 'उकारद्वयाग्नि' लिखा है और दूसरी ओर 'एकादशाग्नि समष्टि' है; इन दोनों के बीच में एक समाधिस्थ व्यक्ति के शिर से नाक की सीध में एक ऊर्ध्वमुख तीर दो उकारों के बीच में से निकलता हुआ दिखाया गया है। इसकी तुलना एक दूसरे चित्र[4] से कर सकते हैं जिसे विद्वानों ने महा-योगी अथवा पशुपति कहा है और जो प्रथम योगी से निम्नलिखित बातों में भिन्न हैं—

(१) प्रथम चित्र में जो शीर्षस्थ उकार-द्वय दिखाये गये हैं उनको तीर ने एक दूसरे से पृथक् कर दिया है, जब कि दूसरे में दोनों उकार परस्पर संयुक्त होकर वृत्र-महिष शृंगों के समान हो गये हैं और दोनों के सन्धि-स्थानों पर जो दृढ बन्धनयुक्त वर्म दिखाई पड़ता है वह दोनों शृंगों, बाहुओं, आँखों, कानों आदि से लेकर समस्त मुख-मण्डल, वक्षस्थल तथा पेट पर भी दिखाई पड़ता है।

(२) जो महिष-शृंग-योजना शिर पर दिखाई गई है, उसी का लघुरूप शरीर के अधोभाग में भी दिखाया गया है, जब कि प्रथम चित्र में इसका सर्वथा अभाव है।

---

(१) तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तद् वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सोम्य विद्धि (मु० उ०, २, २)

(२) वज्रो वै शरः शा० ३, १, ३, १३; ३, २, १, १३; त्रिवृत् वै वज्रः कौ० ३, २, १२,२ तु० क०।

(३) Mackay, Further Excavation at Mohenjodaro, plate LXXXVII, seal 222 (आ० ५०)

(४) MIC. Vol. I, Pl. XII,17; Mackay, Further Excavation at Mohenjodaro. XCIV, seal 420; plate C, F (आ० ५१)

(३) अधोभाग में स्थित महिष-शृंग-योजना के ठीक नीचे एक और प्रतीक है जिसका ऊपरी भाग सिंधुघाटी का वरुण सूचक 'व' है और निचला भाग वृत्रसूचक चिह्न है, जबकि प्रथम चित्र में यह बिलकुल नहीं है।

(४) इस चित्र में सिंहासन के नीचे दो मृग हैं और तथाकथित पशुपति के इधर-उधर क्रमशः चीता, हाथी, गेंडा और भैंसा दिखाये गये हैं। प्रथम चित्र में सभी पशु गायब हो गये हैं और बाहुओं को छोड़कर अन्यत्र का समस्त आवरण भी समाप्त हो गया है।

(५) चित्र के ऊपर लेख है 'वृत्राग्निशुनौ प्राणान्नौ इन्द्रेन्दू'। जिसके विपरीत प्रथम चित्र का लेख है "उकारद्वयाग्नि एकादशान्ना"।

वषट् और वृषट्

इस तुलना से स्पष्ट है कि उक्त दोनों चित्रों का विषय एक नहीं है। जहाँ दूसरे चित्र में इंद्र और इंदु (प्राण एवं अन्न) वृत्राग्नि के कुत्ते बनकर (संभवतः दो मृगों के रूप में) अपने को वृत्रान्न से अभिन्न मानते हुये चीता, हाथी, गेंडा और भैंसे के साथ एक ऐसे मानवशरीर की चौकीदारी कर रहे हैं जो नीचे से ऊपर तक सुदृढ़ आवरण से ढका हुआ है। वहाँ प्रथम चित्र में उकारद्वय (पुरुषद्वय) की अग्निज्योति अन्नसमष्टि से अपने को पृथक् मानती है। ऊपर और नीचे महिषशृंगयोजना द्वारा इस आवरण को संभवतः वृत्र ने मुहरबन्द कर दिया है। उस पर भी वरुण के संकेताक्षर व के नीचे वृत्र के संकेताक्षर वृ को लिखने का अभिप्राय संभवतः दुहरी मुहरबंदी है। यहाँ मानवशरीर को वृत्र ने अथर्ववेदवर्णित 'अष्टचक्रा नवद्वारा' देवपुरी अयोध्या के स्थान पर एक बंदीगृह बना दिया है जिसकी तुलना ऋ० ४, २७ के उस बंदीगृह से की जा सकती है जिसमें वामदेव अपने को 'शत आयसी' पुरों से आवृत और अनेक चौकीदारों से घिरा हुआ पाता है। ऐतरेय[1] उपनिषद् के अनुसार इस बन्दीगृह का बन्दी वामदेव आत्मा ही है जो श्येनरूप में बड़े वेग से आखिर निकल भागता है। सिन्धुघाटी के एक अन्य मुद्राचित्र[2] में इस बन्दी को श्येनरूप में भाग निकलने के लिये एक दूसरी कल्पना को मूर्त रूप दिया है। वहाँ एक रज्जुवेष्टित लट्ठ (जिसको यूप कहा जा सकता है) के पास एक सुन्दर पुरुष खड़ा है जिसके शरीर के चारों ओर शिथिल होता हुआ सा रज्जुबन्धन है और

(१) ऐ० उ० २, ५।
(२) Madho Sarup Vats Excavations at Harappa, plate XCIII, seal 318 (आ० ५२)

उसके शिर से सवेग उड़ता हुआ एक श्येन निकल रहा है। उसके हाथों में वरुण-सूचक वकार सम्भवतः वरुण-कृपा के द्योतक हैं। इसको देख कर ऐतरेय-ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेप की याद आती है जो यूप से बँधा हुआ वरुण से अपनी बंधन-मुक्ति के लिये प्रार्थना करता है जो अन्त में स्वीकार होती है, यद्यपि वहाँ किसी श्येन का उल्लेख नहीं है। उक्त मुद्रा-चित्र के दूसरी ओर 'अपंच वृत्र वषट' लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तथाकथित पशुपति के चित्र में मानव-शरीर जिस दुर्भेद्य आवरण से युक्त दिखाया गया है उसमें महिष-शृंगों की दो जोड़ियों के अंतर्गत चार वकारों में वृकार से संयुक्त वकार को मिलाने से पंचवृत्रीय वकार माने जाते थे। प्रस्तुत चित्र में इन वृत्रीय वकारों का लोप होकर उनके स्थान पर षट् वकार आ गए हैं जिनमें से चार तो शीर्षस्थ श्येन के नीचे-ऊपर हैं और दो, जैसा कि बतलाया जा चुका है, दोनों हाथों में आ गये हैं। इस प्रकार 'वषट्' (षट् वकार) का निर्माण हो गया है; इसी वषट्कार[१] का प्रतीक ब्राह्मण-ग्रंथों में वज्र माना गया है, क्योंकि वषट् करते हुए जिस शत्रु (वृत्र) का ध्यान किया जाता है उसी पर वज्र[२] गिरता है। इससे स्पष्ट है कि जो ध्यान-योग की कल्पना शर या वज्र के प्रतीक में ऊपर देखी गयी वही यहाँ वषट्कार द्वारा व्यक्त की गई है।

इस वषट्कार की कल्पना एक अन्य मुद्राचित्र[३] में एक विशिष्ट प्रतीक द्वारा व्यक्त की गई है। वहाँ पर योगासन में बैठे पुरुष के शिर पर एक वकारात्मक (सिन्धुघाटी लिपि) आकृति की टोपी है जिससे निकलते हुए पुछल्ले में छः छोटी-छोटी रेखायें उक्त वकार-समेत वषट्कार बनाती हैं। इस वषट्कार के ऊपर तीन घुंघराले से सींगों का बना एक मुकुट है जिसमें ९ बिन्दु बने हैं। इस प्रकार वषट्कार-समेत मुकुट द्वारा एकाक्षरी ओंकार का ऊ सा बन जाता है; इसके ऊपर बना हुआ दो का अङ्क सम्भवतः ओंकार के अवशिष्ट दो अक्षरों (अ और म) के द्योतक हैं जिनके बिना ब्राह्मण[४]-ग्रंथों में वह इस लोक-सम्बन्धी 'शुद्ध-प्रणव' कहलाता है और जिनके सहित मकारान्त ओंकार परलोक से सम्बन्धित है। सिन्धुघाटी के ओंकार में जो नौ बिन्दु दिए गए हैं वे

(१) वज्रो वै वषट्कारः (ऐ० ३, ८; कौ० ३, ५; श० १, ३, ३, १४; गो० उ० ३, १, ५)

(२) वज्रो वा एष यद् वषट्कारो, यं द्विष्यात्तं ध्यायेद्वषट्करिष्यंस्तस्मिन्नेव वज्रमास्थापयति (ऐ० ब्रा० ३, ६)

(३) Mackay, Further Excavation at Mohenjodaro Pl. LXXXVII, 235 (आ० ५३)

(४) यच्छुद्धं प्रणवं कुर्वन्ति तदस्य लोकस्य रूपं, यन्मकारान्तं तदमुष्य लोकस्य (कौ० १४,३)

सम्भवत: उन नव वस्तुओं के सूचक हैं जिनसे प्रकृष्ट होने के कारण ओंकार 'प्रणव' कहलाता था। इस एकाक्षरी प्रणव के ऊपर एक ओर श्येन पक्षी को आकाश में उड़ता हुआ दिखाया गया है जिसके चारों ओर चार बिन्दु सम्भवत: चार दिशाओं के सूचक हैं और उसके नीचे सम्भवत: 'अ' विशेषण सहित अग्नि लिखा हुआ है। इस सारे विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इस चित्र में आत्मारूपी अग्नि की वह सर्वोच्च अवस्था है जिसमें वह शरीररूपी अयोध्या-पुरी[2] के नौ द्वारों से परे भी स्वतन्त्रतापूर्वक उड़ान कर सकता है और इसीलिए प्रणव कहलाता है। इसके विपरीत नव द्वारों तक सीमित रहने वाला ओंकार 'द्विवर्ण एकाक्षर' ओम् है जो सिन्धुघाटी में स्पष्टत: 'नव म नव[3] म इन्द्र य' कहा गया है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

अब तक के विवेचन से ऐसा प्रतीत होगा कि सिन्धुघाटी में केवल मानव-व्यक्तित्व के विविध पक्षों पर ही विचार हुआ है, और उससे बाहर किसी अन्य विषय पर कोई चर्चा नहीं हुई। यह बात यद्यपि अक्षरश: सत्य नहीं है, परन्तु जिस प्रकार परवर्ती भारतीय-दर्शन में 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सिद्धान्त चला उसी प्रकार वह सिन्धुघाटी की विचारधारा का भी मूलमंत्र अवश्य रहा प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय है कि मानव-देह के सादृश्य पर ही बाह्य जगत की भी कल्पना की गई। इसका सब से अच्छे उदाहरण वह 'अन्ना-दान्न' प्रतीक है जिसे मार्शल[4] ने धूपदान (Incense burner) और श्री केदार-नाथ शास्त्री[5] ने वेदी कहा है। हड़प्पा[6] के एक मुद्रा चित्र में एक ओर यह प्रतीक है और दूसरी ओर शीर्षक 'सवित्रेन्द्रजस्नजन' लिखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार मानव-देह में जस्न (यज्ञ) और इंद्र की कल्पना की गई वैसे ही ब्रह्माण्ड में भी एक जस्न और सवित्रेन्द्र की कल्पना की गई है।

(१) अग्नि शब्द से पूर्व एक अक्षर है जो पूरी तरह से मुद्रा में नहीं आ सका है, परन्तु जो भाग आ सका है उससे वह अ अक्षर प्रतीत होता है।

(२) तु० क० अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

(३) Mackay, Further Excavaations at Mohenjodaro, plate LXXXVII, seal २४० (पटल ५)

(४) MIC. Vol. I. P. 69

(५) New Light on the Indus Eviligation Vol. I, p. 30

(६) MEH, plate XCIII, ३२० (प्रा० ५८)

एक अन्य मुद्राचित्र[१] में सूर्यमंडल से एक दंडाकार वस्तु पृथ्वी पर आती हुई दिखाई गई है और उस पर 'सवपन अन असि द्यु' लिखा है जिसका अभिप्राय है कि आकाश भी भूमि पर बीज-वपन करने वाला एक 'अन' है। इसकी तुलना अथर्ववेद के ब्रह्मचारीसूक्त[२] से की जा सकती है जहाँ द्यौ और पृथिवी के बीच एक ऐसे बृहत् शेप की कल्पना की गई है जो पृथिवी पर चारों प्रदिशाओं को जीवन देने वाले रेतस का सिञ्चन करता है। यही सम्भवतः पुराणों में शिव के उस महाज्योतिर्लिङ्ग का आधार बना प्रतीत होता है जिसके छोरों का पता ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं लगा सके।

इसी प्रकार की कल्पना सिंधुघाटी के हस्ति-प्रतीक में भी मिलती है। मोहेन-जोदरो से प्राप्त कुछ हाथियों के ऊपर 'अन-अग्गिन्-मन[३], वृत्र-वषट्-मन-मान[४]' तथा अन्य[५] मनस्परक शीर्षक जहाँ व्यष्टिगत तथ्यों की ओर संकेत करते हैं, वहाँ 'हस्तिमान-अन'[६] जैसे शीर्षक ऐसे अन (जीवन-तत्व) को सूचित कर रहा है जो उक्त व्यष्टिगतपरक 'अन' की तुलना में हाथी के परिमाण का कहा जा सकता है। ऋग्वेद में भी जहाँ व्यष्टिगत तथ्यों के लिये अनेक स्थलों पर बहुवचनान्त[७] हस्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ समष्टिगत इंद्र के लिए एकवचन महाहस्ती[८] शब्द आया है। अन्न की कल्पना के प्रसंग में भी यही बात कही जा सकती है। सिंधुघाटी के लेखों में सात, ग्यारह और सोलह अन्नों का उल्लेख व्यष्टिगत तथ्यों के संदर्भ में ही हुआ है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, परन्तु जब एक मुद्रा पर हाथी के ऊपर 'शतान्न'[९] लिखा मिलता है तो उसको समष्टिपरक 'अन्न' का द्योतक मानना समीचीन प्रतीत होता है। प्रस्तुत मुद्रा की दूसरी ओर जो

---

(१) MEH., Plate XCIV, 341.

(२) अभिक्रन्दन् स्वनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥
(अ० वे० ११, ५, १२)

(३) MFE., Plate XCVII, 590.

(४) वही, वही, 573.

(५) MIC., Plate CXII, 367, 369.

(६) MFE., Plate XCIX, 648.

(७) ऋ० ४, १६, १४; १, ६४, ७; ३, ३६, ७; ६, ८०, ५।

(८) आ तू न इन्द्रक्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन (ऋ० ८, ८१, १)

(९) MFE., Plate CII, seal 15—a and b.

पश्चिममुखी आकृति बनी है उस में उभरे हुये चार दंडाकार अंग जहाँ चार दिशाओं के सूचक हो सकते हैं, वहाँ उसका एकमात्र मानव-चरण चतुर्दिक् समष्टि की एकता का सूचक होकर ऋग्वेद के एकपात्[1] की याद दिलाता है जो एक स्थान (१०,११७,८) पर एकपात् से द्विपाद, त्रिपाद और चतुष्पाद होने वाला भी कहा गया है। सिंधुघाटी के ककुद्मान् महावृषभ भी इसी प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों के तथ्यों का प्रतीक है। एक[2] महावृषभ पर 'असि अम एकादश अन्न' लेख है, तो दूसरे[3] पर 'इंद्रवृत्राग्निषडान्न' लिखा है—इस प्रकार के शीर्षक निस्संदेह व्यष्टिगत अन्नों की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि १६ अन्नों या कलाओं तक व्यष्टि के अन्तर्गत ही समाविष्ट माने जाते हैं। परन्तु एक महावृषभ[4] के ऊपर 'अन' शब्द लिखा है और उसके चारों ओर एक-एक दंडाकार रेखा खड़ी करदी है तथा १ का अंक लिख दिया है। इससे स्पष्ट है कि यह महावृषभ चतुर्दिक् समष्टिगत 'अन' का प्रतीक है। इसी प्रकार 'चतुरग्नि'[5] अथवा चतुर्विध अत्रि[6] शीर्षक वाले महावृषभ भी समष्टिगत अग्नि या अत्रि के सूचक हैं। इस प्रकार के वृषभ की तुलना ऋग्वेद के 'भीम गो' शीर्षक से की जा सकती है जो इन्द्र के लिये (ऋ० ८, ८१, ३) हुआ है। जिस सत्य का यहाँ उल्लेख किया गया है वह 'अम' नामक ज्येष्ठ प्राण[7] है और हड़प्पा की उक्त मुद्रा के लेख में भी 'अत्रि अम वृक्श' कहकर उस पुरुषरूपी वृक्ष को 'अम' नाम ही दिया गया है जो उपर्युक्त 'अप' नामक ज्ञानमय कर्मजल से सिंचित होकर पल्लवित होता हुआ सा माना गया है। इसी 'ज्ञानमय कर्मजल' की कल्पना को मूर्तिमान् करने के लिए, कर्म तथा ज्ञान के प्रतीक सिंहद्वय को परस्पर लड़ने के स्थान पर, एक साथ नाचता हुआ दिखाया गया है और पुरुष-रूपी वृक्ष-ठूंठ में हाथों और पैरों की स्थिति ऐसी रक्खी गई है कि दोनों ओर 'जन' शब्द लिख जाता है तथा शीर्षस्थानीय 'क' वर्ण के मिलने से प्रसिद्ध कर्म-योगी एवं ज्ञानी 'जनक' का नाम चित्रित हो जाता है।

---

(१) ऋ० २, ३१, ६; ६, ५०, १४; ७, ३५, १३; १०, ६४, ४; ६५, १३; ६६, ११; ११७, ८।
(२) MFE., Plate CII, seal 14—ab.
(३) वही, Plate XCVII seal 567.
(४) वही, Plate LXXXVIII, seal 310.
(५) वही, Plate LXXXV, seal 153.
(६) वही, Plate LXXXVIII, seal 322.
(७) अमो नामासि अमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयतु, अहमेवेदं सर्वं असानि (छा० उ०, ५, २, ६-७)

मुद्रा के दूसरे पार्श्व पर एक शृंगाररत स्त्री चित्रित की गई है जिसके सामने एक पुरुष अपने एक हाथ में दर्पण सा पकड़े हुये खड़ा है। इस पुरुष का दूसरा हाथ मुड़ा हुआ नकाररूप में उसके कटि-प्रदेश पर रक्खा हुआ है और उसमें एक 'जकार'रूप वस्तु है जो उक्त नकार तथा शीर्षस्थानीय 'क' वर्ण के साथ मिलकर पुनः 'जनक' शब्द की सृष्टि कर देता है। इस शृंगार-चित्र के पास जो उक्त पुरुषाकार समष्टिवर्ण बना है वह प्रथम समष्टिवर्ण के विपरीत इससे विमुख होकर जाता हुआ सा प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त नृत्यरत सिंहद्वय के प्रति पुरुषाकार समष्टिवर्ण की अभिमुखता जहाँ ज्ञानकर्मसमन्वय के प्रति अभिमुखता समझी गई है, वहाँ शृंगाररत स्त्री के प्रति उसकी विमुखता तथा 'जनक' की सेवाभावना का युगपत् चित्रण 'कमलपत्रमिवाम्भसा' के निर्लिप्त-भाव को व्यक्त करके विदेह जनक की कल्पना को मूर्त रूप देता है।

अस्तु ये दोनों ही पुरुषाकार समष्टिवर्ण व्यष्टिगत तथ्यों का ही चित्रण करते हैं और उनके वक्षस्थानीय दो संयुक्त मकारों पर शीर्षस्थानीय मकार मानव-व्यक्तित्व के मूर्धा और हृदय-तत्त्वों को ही व्यक्त करते हैं।

यथा देहे तथा देशे

परन्तु उक्त व्यष्टिगत समष्टिवर्ण में शीर्षस्थानीय मकार के स्थान पर वृत्त[1] चिह्न स्थापित करके एक ऐसे समष्टिवर्ण की सृष्टि हो जाती है जो समष्टिगत तथ्यों का द्योतक हो जाता है। परन्तु जिस समष्टि के तथ्यों का चित्रण यह समष्टिवर्ण करता है वह भारतवर्ष तक ही सीमित प्रतीत होती है। इसके वक्षस्थानीय दो संयुक्त मकार हिमालय के उस मानस-सरोवर के द्योतक हैं जिनसे भारत की आपद्वय, सिंधु एवं ब्रह्मपुत्र निकलते हैं और उक्त समष्टिवर्ण के मकारद्वय से उद्भूत होने वाले अपद्वय (जो हाथों से लटकते दो घड़े से लगते हैं) इन्हीं दोनों सरिताओं सहित अरबसागर[2] और बंगाल की खाड़ी के प्रतीक हैं तथा इन दोनों मध्य में स्थित 'मेरुदण्डसहित दो पैर' हिमालय से लेकर कुमारी अंतरीप तक के संपूर्ण आयाम के और शीर्षस्थानीय वृत्र को मानस-सरोवर से परे उस बर्फीली-पर्वतमाला के विस्तार को माना जा सकता है जो समस्त जलराशि को मानों अपने आवरण में बन्दी बना कर रखता है। कहीं-कहीं[3] इस समष्टिवर्ण के साथ

---

(१) देखिये वर्णमाला के अन्तर्गत 'समष्टिवर्ण'।
(२) दोनों सागरों का पूर्व और अपर समुद्र के नाम से ऋग्वेद में भी उल्लेख मिलता है।
(३) MFE., Plate LXXXIV, 82.

३ का अङ्क रहता है और उसके साथ तीन दकारों को संयुक्त कर दिया गया है जिसका अभिप्राय संभवतः यह है कि यह समष्टिवर्ण तीन प्रदेशों के लिये लागू होता है; उक्त तीन दकारों का संयुक्त होना इस बात का सूचक है कि ये तीनों ही प्रदेश एक ही देश (भारत) के दकार में सम्मिलित समझे जाते थे। ये प्रतीक मोहेन-जोदरो से प्राप्त एकशृंगी पशु के ऊपर चित्रित है, इससे प्रतीत होता है कि उपर्युक्त हस्ती तथा महावृषभ की भाँति एकशृंगी को भी व्यष्टि एवं समष्टि दोनों के लिये प्रतीकरूप में प्रयुक्त किया जाता था। एक महावृषभ के ऊपर यह समष्टिवर्ण[१] ऐसा है जिसमें दाहिनी ओर के 'अप' में समुद्रसूचक प-वर्ण नहीं है और पास में वृद्ध इंद्र का दंडधारी प्रतीक बना है। इससे स्पष्ट है कि यह प्रतीक पूर्व-समुद्र-रहित भारत का प्रतीक था जिसका अधिष्ठाता वृद्ध इंद्र माना जाता था। इसके विपरीत अन्यत्र[२] एकशृंगी पशु के ऊपर लिखित 'हिधु-मानन्-इंद्र' (युवा) के साथ तीन का अंक प्रकट करता है कि पश्चिमी भारत को हिधु-देश कहते थे जो तीन युवा इंद्रों के प्रदेश में विभक्त माना जाता था। एक अन्य[३] समष्टिवर्ण में केवल उभय-समुद्र-सूचक पकार-द्वय-सहित अर्द्धदण्ड और लंका-द्योतक चरणयुगल दिखाये गये हैं और उसके साथ पांच का अंक है; इससे प्रतीत होता है कि यह प्रतीक केवल समुद्र-परिवेष्टित दक्षिण-भारत का सूचक है जिसके अन्तर्गत संभवतः पाँच भाग माने जाते थे। अन्यत्र[४] इस प्रतीक के साथ १ का ही अंक लिखा है जिससे उक्त पाँच भागों की एकता अभिप्रेत है। एक मुद्रा[५] पर एक ओर ५ के अंक से युक्त एक चतुष्कोण है जिससे निकलता हुआ एक नारियल का पेड़ खड़ा है; इस मुद्रा के दूसरी ओर 'सेन्द्रवृत्र ऐन्द्रमैत्र' लिखा है। अतः सम्भवतः यह दक्षिण भारत का उस समय नाम रहा हो, जिसमें से ऐन्द्रमैत्र अब भी आंध्र और मद्रास के नाम सुरक्षित हैं और नारियल का पेड़ भी दक्षिण भारत की विशेषता है। एकमुद्रा[६] पर वृत्रसेन्द्रवृद्ध' के साथ ११ का अंक यह सूचित करता प्रतीत होता है कि वृद्ध इंद्र के क्षेत्र (पूर्वी समुद्र-हीन भारत) को कुल ११ क्षेत्रों में विभक्त माना जाता था।

---

(१) MFE., Plate LXXXV, Seal 108.
(२) वही, वही, Seal 111.
(३) वही, वही, Seal 113.
(४) वही, वही, Seal 124.
(५) MEH, Plate XCIII, Seal 325.
(६) MFE, Plate LXXXV, Seal 121.

स्थित: पृथिव्या इव मानदंड:

उक्त ग्यारह क्षेत्रों के संदर्भ में ही संभवत: उक्त इंद्र-क्षेत्र को 'एकादशान्नदान'[1] कहा गया है और इस लेख के साथ जो समष्टिवर्ण है उसमें शीर्षस्थानीय मानस-सूचक मकार को एक ऐसे लम्बे दण्ड के मध्य में दिखलाया गया है जो पुरुष के फैलाये हुये दोनों हाथों के अतिरिक्त पूर्व से पश्चिम तक फैले हुये हिमालय की याद दिलाता है। इसमें उभय-समुद्र-सूचक दोनों 'अप' हैं और उत्तर से दक्षिणपर्यन्त आयाम का द्योतक 'अन' (मेरुदण्ड तथा चरण) बीच में कुछ भग्न से हो गये हैं जो मुद्रा की खराबी के कारण हैं। परन्तु ऐसे अन्य[2] अनेक समष्टिवर्ण भी हैं जिनमें इसी प्रकार का दण्डाकार हिमालय-प्रतीक पुरुषाकृति के फैले हुये भुजदंड-द्वय सा प्रतीत होता है। कालिदास ने जब कुमारसंभव में हिमालय को पूर्व और पश्चिम समुद्र में अवगाहन करता हुआ पृथिवी के मानदण्ड के समान कहा, तो संभवत: उसकी दृष्टि में यही समष्टिवर्ण रहा हो जिसमें मानदंडवत् आयाम से दो दंड निकल कर समुद्रद्वयसूचक घटाकार प-वर्णों तक पहुंचते हुये दिखाये जाते हैं।

इन्द्रावरुणौ सम्राजौ

अस्तु, उक्त समष्टिवर्ण एक दृष्टि से भारत राष्ट्रपुरुष का प्रतीक माना जा सकता है जिसके एक रूप में शीर्षस्थानीय मानस-सूचक मकार हिमालयरूपी दण्डाकार वेमा (भुजदंडद्वय) पर स्थित है और उससे दोनों सिरों पर संलग्न 'अपद्वय' के रूप में दोनों समुद्र विद्यमान हैं तथा उन दोनों के बीच में, हिमालय से लंकापर्यंत भारत, 'अन' शब्द के रूप में, राष्ट्रपुरुष का मेरुदंड-समेत चरण-युगल बन जाता है। एक अन्य रूप में मानस-सूचक मकार के स्थान पर वृत्रचिह्न आ जाता है जो तिब्बत-समेत हिमाच्छन्न पर्वतप्रदेश का द्योतक प्रतीत होता है। मोहेनजोदरो से प्राप्त एक[3] महावृषभ का ऐसा चित्र भी है जिसके ऊपर दोनों प्रकार के समष्टिवर्ण हैं और साथ ही 'इनन्द्रावरुण' लेख भी है। यह लेख उन दो सम्राटों की याद दिलाता है जिन्हें ऋग्वेद[4] में दो महाव्रत तथा क्रमश: सम्राट्-

(१) MFE, XCVIII, Seal 628.

(२) MFE, Plate XCVIII, 602; 633; 639; 635; XCIX, 678.

(३) MFE, Plate XCVIII, 611.

(४) सम्राळन्य: स्वराळन्य उच्यते वां महान्ताविन्द्रावरुणा महावसू (ऋ० ७,८२,२)

स्वराट् कहा गया है और जिनका नाम इंद्र एवं वरुण है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि उक्त दोनों समष्टिवर्णों में से वृत्रपरक वरुण का तथा मानसपरक इंद्र का प्रतीक है और सिंधुघाटी-परम्परा में भी इन्हीं दोनों देवों को संयुक्त रूप में, ऋग्वेद[1] के समान ही राष्ट्र का राजा माना जाता था। कोई भी वृत्र-परक समष्टिवर्ण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देवपक्ष का तभी द्योतक हो सकता है जब वह वषट् से युक्त हो जाय। अतः उक्त वृत्र-परक समष्टिवर्ण इंद्र के सायुज्य में राष्ट्राधिपति होने के लिये वषट्कार से युक्त ही माना जाता होगा; इसकी पुष्टि मोहेनजोदरो से प्राप्त 'वृत्रवषट् इन्द्र-अन-राष्ट्र' लेख[2] से होती है। इस लेख के नीचे एक शान्त दक्षिणावर्त चीता है जिसके सामने देवत्वसूचक वरुणपात्र रक्खा हुआ है। इस लेख में जो इन्द्र-चिह्न है वह दंडधारी वृद्ध इन्द्र का है जो समस्त भारतराष्ट्र का अधिपति माना जाता था और उसके सायुज्य में रहने वाला 'वरुण' अथवा 'वृत्रवषट्' समानार्थक थे, क्यों कि वषट् का अर्थ है 'वरुण के आधिपत्य में आये हुये 'षट् देव' इसीलिए एक मुद्रा पर 'मननवृत्रजस्नवृताम्न' लेख[3] के साथ दो पुरुष (जो इंद्रावरुण हो सकते हैं) मिलकर 'वषट्' को एक दंड (पृथिव्या इव मानदंडः) से बाँधकर कंधों पर लिये जा रहे हैं और उसी मुद्रा पर लेख के नीचे एक दक्षिणावर्त चीता अकारयुक्त प-वर्ण के सामने शान्तभाव से खड़ा है। वृद्ध इन्द्र तथा इन्द्रावरुण के राष्ट्र-संबन्धी लेखों की तुलना एक अन्य लेख[4] से भी की जा सकती है जिसमें 'शत[5] अन्नानि द्वादशाग्न्याग्नि भारत्रराष्ट्र' स्पष्ट अक्षरों में अंकित है और वरुणपात्र-सहित एक दक्षिणावर्त गौर युद्धोन्मत्त मुद्रा में खड़ा है। कम से कम दो अन्य मुद्राचित्रों पर 'भारत्र' शब्द का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक में गौर वृषभ के साथ 'शतान्नवत् नाम भरत्र[6]' तथा दूसरे में हस्ती के साथ 'मित्राश्वसरिर भारत्र[7] एकादश'

---

(१) आवां राजानावध्वरे ववृत्यां हव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः (ऋ० ७,८४,१) अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः (ऋ० ४,४२,२)
(२) MFE, Plate LXXXVIII, Seal 283.
(३) वही, Plate XCVI, Seal 518.
(४) वही, Plate LXXXV, Seal 129.
(५) तुलना कीजिए-शत अन्नाऽग्नि MFE, Plate LXXXV, Seal 142.
(६) MIC., Plate CX; Seal 319.
(७) MEH., Plate XCI, Seal 227.

लेख मिलता है। यहाँ भारतराष्ट्र की अग्नि के साथ जिन शत अन्नों का उल्लेख हुआ है उन्हीं को हम ऊपर 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के प्रसंग में महाहस्ती के संदर्भ में भी देख चुके हैं; अतः या तो सिन्धुघाटी-परंपरा में 'शत अन्न' से असंख्य अन्नों का अभिप्राय होता था अथवा ब्रह्माण्ड एवं भारतराष्ट्र की समष्टि एक ही मानी जाती होगी। अस्तु, इतना तो निश्चित ही प्रतीत होता है कि भारतराष्ट्र के साथ शतान्न, इंद्रावरुण सम्राट् तथा वृद्ध इन्द्र की कल्पनायें संबद्ध मानी जाती थीं। एक महावृषभ[१] के चित्र पर राष्ट्रशब्द से पूर्व दो वर्ण अस्पष्ट हैं, परन्तु 'अन्ना' शब्द साफ दिखाई दे रहा है; संभवतः यह लेख भी भारतराष्ट्र के उक्त शतान्न की ओर ही संकेत करता हो।

भारतराष्ट्र के विभिन्न घटक

संभवतः शतान्न भारतराष्ट्र के अन्तर्गत अनेक इकाइयाँ थीं जिनको भी राष्ट्र कहा जाता था। वृत्रराष्ट्र[२] संभवतः तिब्बत-सहित समस्तहिमाच्छन्न पर्वतीय प्रदेश का नाम था; इसी की ओर वृत्रजन[३] एकादश वरुण, वृत्र एकादश,[४] वृत्र-सेन्द्रवृत्रएकादशी,[५] वृत्रसीमाएकादश,[६] वृत्रसेन्द्राग्निराग्निवृत्रजनसेन्द्र,[७] तथा वृत्र-एकादशो[८], वृत्ररं-नर-अन-राष्ट्रदान[९], वृत्रएकादशाग्नि[१०]एक अन्न तथा वृत्रमानस-पानपा[११] आदि अनेक मुद्रालेख संकेत करते प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार समस्त पश्चिमी भारत का नाम 'हिन्धु' प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त पूर्वी भारत संभवतः 'इरा'[१२] कहलाता था और ऋग्वेद[१३] में 'सिंधवः' और 'इरावतीः' नाम से जो नदियों का वर्गीकरण मिलता है वह संभवतः इसी तथ्य पर आधारित

(१) MFE., Plate LXXXIX, Seal 362.
(२) MEH, Plate LXXXIX, 124.
(३) MEH., Plate LXXXIX, Seal 110.
(४) MEH., Seal 146.
(५) वही, Seal 145.
(६) वही, Seal 139.
(७) MEH., Plate XCI, 241.
(८) वही, Plate LXXXVIII, 93.
(९) वही, वही, Seal 87.
(१०) वही, वही, Seal 78.
(११) वही, Plate LXXXIX, seal 166.
(१२) वही, Plate LXXXVII, seal 89.
(१३) इरावतीवंरुण धेनवो वां मधुमद् वां सिन्धवो मित्र दुहे (ऋ० ५, ६९, २)

था। एक महावृषभ प्रतीक पर अंकित 'अनदमा'[१] का अर्थ 'प्राणों का दमन करने वाला' होता है जो वर्तमान अंडमान के 'कालापानी' लाँछन को याद दिलाता है, परन्तु यह आध्यामिक प्रतीक भी हो सकता है।

इसी प्रकार दक्षिण भारत के जिस क्षेत्र के विषय में नारियल वृक्ष के साथ 'सेन्द्रवृत्र ऐन्द्रमैत्र' लेख का उल्लेख ऊपर हुआ है, उसके घटकों में से कुछ के पृथक् नाम भी मिले हैं। एक महावृषभ-मुद्रा के ऊपर 'मैत्र'[२] शब्द है और दूसरी[३] पर सेन्द्र तथा तीसरी पर वृत्रैन्द्रमैत्र[४] महिषचित्रों के साथ लिखा मिलता है। बहुत संभव है कि उपर्युक्त 'मित्राश्वसरिर भारत्र एकादश' भी दक्षिण भारत के लिए ही आया हो, क्यों कि एक तो इस लेख के साथ हस्ती का चित्र है जो मैसूर में अब भी पकड़ा जाता रहा है; दूसरे सरिर-शब्द ब्राह्मण[५]-ग्रन्थों में 'सलिल' का रूपांतर है जो इस लेख में समुद्र-सलिल का संकेत करने के लिए प्रयुक्त हुआ हो सकता है। वैसे वैदिक साहित्य में सरिर-शब्द पुंलिग और नपुंसक दोनों लिंगों में प्रयुक्त हुआ है जिनमें से शतपथ के अनुसार प्रथम का अर्थ वायु[६] तथा दूसरे का आपः[७] होता है। अतः यहाँ भी दक्षिण भारत का वायु तथा समुद्र दोनों ही अभिप्रेत हो सकते हैं।

ब्रह्मदेश या वर्मा

एक मुद्राचित्र[८] में एक विचित्र महिष है जिसके सिर पर सिंधु-लिपि के तीन उकार-सदृश चिह्नों को परस्पर संयुक्त करके तीन सींगों की रचना की गई है और उसके ऊपर जो लेख है उसमें भी 'वृम' शब्द के साथ उकार बना है जिसमें ३ का अंक लिखा है। हो सकता है कि यह 'वृम उ' वर्तमान वर्मा अथवा उसके 'जन' का सूचक हो और उसके साथ प्रयुक्त ३ का अंक उस देश अथवा उसके जनसमुदाय के किसी वर्गीकरण का सूचक हो। 'वृम' शब्द के साथ ३ का

---

(१) MEH., Plate XCI, seal 233.
(२) वही, 236.
(३) MEH., Plate XCI, 235.
(४) MIC., Plate CIII., seal 10.
(५) आपो वै सरिरम्, श० ७,५,२,१८; आपो इवा इदमग्रे सलिलमेवास, श० ११,१,६,१.
(६) अयं वै सरिरो योऽयं (वायुः) पवते (श० १४, २, २, ३)
(७) आपो वै सरिरम् (श० ७, ५, २, १८)
(८) MEH.; Plate XCI, seal 235.

अंक अन्यत्र[1] एकशृंगी पशु के ऊपर भी लिखा मिला है, परन्तु उसके साथ एक चिह्न और है जो अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। ब्रह्मदेश का तत्कालीन भारत के अन्तर्गत माना जाना असम्भव नहीं है, क्योंकि सिंधु एवं ब्रह्मपुत्र-नामक नदियों सहित पश्चिमी तथा पूर्वी समुद्रों के सूचक चिह्न उक्त समष्टिवर्णों के 'अपद्वय' में सम्मिलित हैं ही, और इसके अतिरिक्त वे स्वतंत्र रूप से भी प्राप्त हुये हैं। एकमुद्रा[2] पर दोनों ओर उक्त समष्टिवर्ण के समान ही दोनों समुद्रों को प-वर्णों से सूचित किया गया और उनमे संयुक्त दो अ-वण परस्पर मिलकर अर्द्धचन्द्रवत् होकर सिंधु एवं ब्रह्मपुत्र के सूचक हो गये हैं और उसके पास लिखा 'अन' शब्द इस प्रकार सिंधु-ब्रह्मपुत्र क्षेत्रीय भारत के उस प्राणिवर्ग का सूचक प्रतीत होता है जिसका प्रतिनिधिस्वरूप एक पशु 'गर्दभ' सा लेख के साथ चित्रित है। यदि 'वृम' वर्तमान ब्रह्मदेश के लिए ही उस समय प्रयुक्त होता था, तो उसमें उस समय वैदिक संस्कृति का प्राधान्य ही रहा प्रतीत होता है, क्योंकि 'वृम' शब्द के साथ लेखों में इंदु[3], अग्नि[4], जस्न[5] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक लेख[6] में 'नमन वृम मम' कहकर संभवतः इसी प्रदेश को नमस्कार किया गया है। एक मुद्राचित्र पर हाथी के साथ उपर्युक्त पुरुषाकार समष्टिवर्णों में से एक ऐसे ढंग से बनाया गया है कि उसमें दो समुद्र-सूचक घटों में से वामपक्षीय घट नहीं है; अतः संभवतः यह उस राष्ट्र-पुरुष का प्रतीक है जो पश्चिमी समुद्र (अरबसागर) रहित भारत का द्योतक हो; इसके अन्तर्गत स्वभावतः ब्रह्मदेश भी सम्मिलित होता होगा। इस हस्ती के ऊपर उक्त समष्टिवर्ण के अतिरिक्त 'जस्नराष्ट्राग्निमान् मित्र' लिखा है और साथ में ३ का अंक भी बना है। यदि ब्रह्मदेश के साथ ३ के अंक की विशेषता का उपर्युक्त अनुमान ठीक है, तो इस चित्र से भी पूर्वी भारत के 'ब्रह्मदेश' की ओर ही संकेत अभीष्ट हो सकता है।

(१) MIC., Pl. CIII, seal 10.
(२) वही, Pl. LXXXVII, seal 74.
(३) MIC., Pl. CXVI, seal 2.
(४) MIC., Pl. CXI, seal 334.
(५) वही, Pl. CXV, 550.
(६) वही, Pl. CV, 58.
(७) वही, Pl. CXV, seal 548.

भारतीय प्रदेशों के नामोल्लेख का अभिप्राय

भारत के विभिन्न प्रदेशों का नामोल्लेख, चाहे आज के समान, उस समय के किसी राजनीतिक एकीकरण का सूचक भले ही न हो, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि देश के विभिन्न भाग वैदिक देवताओं के अधिकार-क्षेत्र में उसी प्रकार समझे जाते थे, जिस प्रकार मानव-देह। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि उस समय पुरुष और प्रकृति, शक्तिमान् और शक्ति अथवा आत्मा और परा (शक्ति) ब्राह्मणकाल[1] के समान समस्त सृष्टि के मूल में समझे जाते थे, क्योंकि इन्हीं (आत्मा और परा) के आदिवर्णों को लेकर प्रथम सृष्टि को आप या अप कहा जाता था। ब्राह्मणग्रंथों[2] के अनुसार आदिसृष्टि 'आप:' मूलत: द्विविध थे—एक प्राण और दूसरे अन्न (या आत्मदेह), परन्तु इन्हीं से सारे देवता[3] उत्पन्न हुये और ये ही देवों के प्रिय धाम[4] माने जाते थे। हम देख चुके हैं कि 'अप' से ही सिंधुघाटी में भी इन्द्र, वायु (आदित्य) और अग्नि को उकारात्मक ज्योतियों का प्रादुर्भाव माना जाता था तथा पराशक्ति वरुण और वृत्ररूप में द्विविध होकर नानाप्रकार की सृष्टि रचती हुई मानी जाती थी। अत: कोई आश्चर्य नहीं कि भारतभूमि के विभिन्न भाग इंद्र, मित्र, वरुण, वृत्र आदि संबंधित माने जाते हों। शक्तिसंगमतंत्र[5] के अनुसार भी किसी समय देश के विभिन्न भागों के नाम इन्द्रप्रस्थ, यमप्रस्थ, वरुणप्रस्थ, कूर्मप्रस्थ तथा देवप्रस्थ कहलाते थे जिनमें से इंद्रप्रस्थ के अन्तर्गत उत्तर में मथुरा, वृन्दावन, कोलदेश, हस्तिनापुर; पश्चिम में द्वारका तथा दक्षिण में गदावर्त-क्षेत्र तथा मध्यप्रदेश का वराही-क्षेत्र सम्मिलित था। यमप्रस्थ के अन्तर्गत प्राय: समस्त दक्षिण भारत माना जाता था और व्यंकटेश, सोमेश्वर, सप्तशृंग, मायापुर, शंखावर्त आदि क्षेत्र उसी में माने जाते थे। वरुणप्रस्थ पश्चिम में मक्केश्वर (मक्का) तीर्थ,

(१) गो० ब्रा० १, १, २; श० ब्रा० ६, १, १, ६; ११, १, ६, १ तु० क० अप एव ससर्जादौ (मनु० १, ३)

(२) श० ७, २, ४, १०; तु० क० ऐ० ६, ३०, तै० ३, २, ५, २; श० ३, ८, २, ४; जैं० उ० ३, १०, ६; तां० ६, ६, ४।

(३) आपो वै सर्वे देवा: (श० १०, ५, ४, १४)

(४) आपो वै देवानां प्रियं धाम (तै० ३, २, ४, २)

(५) इंद्रप्रस्थं यमप्रस्थं वरुणप्रस्थमेव च। कूर्मप्रस्थं महादेव देवप्रस्थं च पञ्चमम्॥ (३, ८, १-२)

उत्तर में हिंगुला नदी, पूर्व में राजावर्त (राजस्थान?) तक फैला हुआ था जिसके अन्त में सात सागर थे और पास में समुद्र थे। इसी प्रकार पूर्वी भारत कूर्म-प्रस्थ कहलाता था जो दक्षिण में गोकर्णेश (आधुनिक उत्तरप्रदेश का उत्तरपूर्वी प्रदेश), पूर्व में कामाख्य (आसाम) तथा वैरजनाथ (आधुनिक वैजनाथ) उत्तर में मानस सरोवर तथा पश्चिम में सारदा नदी तक फैला हुआ था। इन पाँच प्रस्थों के अन्तर्गत जिन ५६ प्रदेशों को गिनाया[1] गया है, उससे प्रतीत होता है उनमें मक्का से लेकर लंका तक का सैन्धव-नामक समुद्रतटवर्ती पर्वतीय प्रदेश, रत्नाकर (बंगाल की खाड़ी) से लेकर ब्रह्मपुत्र नदी के अन्तिम छोर तक बंग-देश, कामरूप, भूटान, नेपाल, काश्मीर, खुरासान तथा दक्षिण के केरल, कोंकण, कर्णाट, तैलंग तथा सिंहल का भी समावेश होता था।

तामिल तथा बौद्ध-परंपरा का प्रमाण

भारतभूमि के उक्त सांस्कृतिक एकीकरण तथा वैदिक नामकरण की पुष्टि तामिल के प्राचीन साहित्य से भी होती है। तोलकप्पियम्[2] के अनुसार, हमारी भूमि मुल्लइ (वन), कुरुञ्जी (गिरिभाग) मारुदम (जलभाग) तथा नेदल (कृषिभाग) नामक चार भागों में विभक्त थी जिनके अधिष्ठाता क्रमशः विष्णु, सुब्रह्मण्य (स्कन्द), वरुण तथा इंद्र समझे जाते थे। डा० कृष्णस्वामी आयंगर[3] ने प्राचीन तामिल के संगम-साहित्य से प्रमाण देकर बतलाया है कि राष्ट्रभूमि से जिन देवों का घनिष्ठ संबंध माना जाता था उनमें विष्णु और रुद्र, सुब्रह्मण्य और इन्द्र मुख्य थे। शीलप्पाधिकारम्[4] नामक तामिल ग्रन्थ प्राचीन कावेरीपत्तनम् में शिव, सुब्रह्मण्य, विष्णु और इंद्र के मंदिरों का उल्लेख करता है। अकित्ति[5] जातक के अनुसार अगस्त्य ऋषि वाराणसी के पास से चलकर दक्षिण में कावेरी-पत्तनम् गये और वहाँ से चलकर कारद्वीप (जो अहिद्वीप भी कहलाता था) में रहने लगे जहाँ उन्होंने भिक्षुकरूप में आये हुए इन्द्र को स्वयं भूखे रहकर भी अपना भोजन दे दिया। मणिमेखलाइ-नामक बौद्ध ग्रन्थ में अगस्त्य ने परशुराम

(१) शक्तिसङ्गमतन्त्र ३, ७; १-५६।
(२) दी व्रात्य सिस्टम आव रिलीजन, पृ० १३१।
(३) सम कन्ट्रीब्यूशन्स आव साउथ इंडिया टु इंडियन कल्चर, पृ० ५३।
(४) वही, पृ० ५५।
(५) वही, पृ० ४६-५०।

से भयभीत हुये कांडम-नामक राजा को शरण दी और एक अन्य चोल राजा को अट्ठाईस दिवसीय इन्द्रमहोत्सव मनाने का आदेश दिया जिसे देखने के लिये कैलास आदि पर्वतों से सभी देव कावेरीपत्तन आ गये।

उपर्युक्त 'शीलप्पाधिकारम्' नामक प्राचीन तामिल काव्य में उल्लिखित एक ऐसे ही प्रसंग को डा० वासुदेवशरण[1] अग्रवाल ने निम्नलिखित रूप में उद्धृत किया है—

> 'एक विद्याधर ने अपनी प्रियतमा के साथ रजताद्रि कैलास पर मदनोत्सव मनाया। उसी समय उसे ध्यान आया कि दक्षिण भारत की पुहार-नामक राजधानी में इसी समय इन्द्रमह हो रहा है। उसने अपनी स्त्री से कहा—प्रिये, चलो पुहार का उत्सव देखें जहाँ महाभूतम् साक्षात् रूप में उस हवि का भक्षण करते हैं जो असुरों के बाणों से भयभीत इन्द्रपुरी की रक्षा करने वाले पुरुषव्याघ्र मुचुकुन्द की सहायता करने के उपलक्ष में उसे दी जाती है। चलो वहाँ उन पाँच मंडपों को भी देखेंगे जिनका वास्तु-सौन्दर्य अद्भुत है, जो इन्द्रप्रदत्त हैं और जिन्हें अमरावती के रक्षक मुचुकुन्द के पूर्वजों ने पृथ्वी पर बनाया है।............'

वैदिक संस्कृति के संदर्भ में दक्षिण भारत का शेष भारत के साथ एकीकरण तामिल-साहित्य से बराबर प्रमाणित होता है। तौलकप्पियम् के कुछ सूत्रों पर भाष्य करते हुये आवूर के मूलकिळार-नामक कवि की एक अतिप्राचीन तामिल कविता को उद्धृत किया गया है जिसका उल्लेख करते हुये डा० कृष्णस्वामी[2] आयंगर ने लिखा है कि यह कविता एक अब्राह्मण द्वारा कौण्डिन्यन्-नामक ब्राह्मण की प्रशंसा में लिखी गई है और इसके अनुसार कौण्डिन्यन् का जन्म ऐसे ब्राह्मण-वंश में हुआ था जो समस्त वेद-वेदांगों में पारंगत था और जिसने वैदिक धर्म के सत्य को इक्कीस प्रकार के श्रौत यज्ञों द्वारा अभिव्यक्त किया था। कवि इस वंश के ब्राह्मणों की प्रशंसा करते हुये आगे[3] कहता है, आप का जन्म ऐसे कुल में हुआ है। आप मृगाजिन तथा यज्ञोपवीत धारण करते हैं। आपकी पतिव्रता धर्मपत्नियाँ ऐसी मणियों को धारण करती हैं जो महायज्ञों के ऋत्विजों की पत्नियों के योग्य हैं; वे परम सुन्दरी हैं और कुलमर्यादा के अनुसार आचरण

(१) भारत की मौलिक एकता, पृ० १३३-१३४।
(२) सम कन्ट्रीब्यूशंस आव साउथ इंडिया टु इंडियन कल्चर (पृ० ५१)
(३) वही पृ० ५२।

करती हैं। आप चाहे वन में रहें या गाँव में, वे विविध प्रकार की गायों की सेवा द्वारा घी को पानी की तरह बहाकर आपके आदेश का पालन करती हैं। उनकी सहायता से असंख्य यज्ञों को करके और समस्त पृथिवी पर अपना यश-विस्तार करके, आप यज्ञों की समाप्ति पर अभ्यागतों को वृहद्भोज देकर कीर्तिमान् होते हो। हमारी कामना है कि हम आप की इस उच्चप्रतिष्ठा को देखने का सौभाग्य निरंतर पाते रहें.........आप पृथ्वी पर जहाँ भी रहो, उत्तुंगशृंग हिमालय के समान ध्रुव रहो और स्वयं हिमालय के समान निरंतर वृष्टि करते रहो। 'डा० आयंगर'¹ अपने ग्रंथ में संगम-साहित्य के ऐसे प्रसंगों का भी उल्लेख करते हैं जहाँ राजसूय यज्ञ करनेवाले महान् चोलराजा तथा एक हिमालय तक राज्यविस्तार रखने वाले चेह वंशी राजा का भी प्रसंग आता है। प्राचीन तामिल-साहित्य के इन उल्लेखों से सिद्ध है कि गौतम बुद्ध से पूर्व ही दक्षिण भारत के लोग भी समस्त भारत को एक मानते थे और उस समय वहाँ वैदिक संस्कृति का साम्राज्य था। अतः यदि मोहेनजोदरो और हड़प्पा के मुद्राचित्रों में भारत के विभिन्न भागों के प्रसंग में वैदिक देवों आदि का उल्लेख पाया जाय, तो सर्वथा स्वाभाविक है।

उपसंहार

अस्तु, मोहेनजोदरो और हड़प्पा से प्राप्त मुद्राचित्रों के आधार पर सिंधु-घाटी-सभ्यता का ऊपर चित्र उपस्थित किया गया है, उससे यह तो स्पष्ट ही है कि वह सभ्यता निश्चित रूप से वैदिक थी और उसमें, आरण्यकों और उपनिषदों की भाँति, वैदिक देवों को आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अर्थों में ग्रहण किया जाता था, जिसके परिणामस्वरूप विकसित हुये प्रतीकवाद के अन्तर्गत बाह्य प्रतीकों द्वारा आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तथ्यों को व्यक्त किया जाता था।

संस्कृत-भाषा

अभिव्यक्ति का माध्यम निस्संदेह संस्कृत-भाषा थी परन्तु उसकी निम्नलिखित विशेषतायें प्रतीत होती है :—

(१) स के स्थान पर 'सिन्धु' जैसे शब्दो में 'ह' का उच्चारण होता था।

(२) वृक्ष जैसे शब्दों में 'क' ध्वनि के स्थान पर 'ख' ध्वनि उच्चरित होती थी।

---

(१) सम कंट्रीब्यूशंस आव साउथ इंडियन कल्चर, पृ० ५३-५४।

(३) संभवत: आधुनिक संस्कृत के 'क्त' प्रत्यय के स्थान पर त न हो 'त्र' होता था, यथा भारत्र के लिए 'भारत', सुवृत के लिये सुवृत्र।

(४) प्रथमाविभक्ति में विसर्ग के स्थान में प्राय: नकार का प्रयोग होता था।

(५) समस्त पदो में कभी-कभी संधि-नियम लागू नहीं होते थे।

(६) सर्वत्र विभक्तियों का प्रयोग अनिवार्य्य नहीं प्रतीत होता।

विश्व का प्रथम मुद्रणालय

दार्शनिक विषयों पर इतनी अधिक मुद्राओं का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि इनका प्रयोग भूर्जपत्र आदि पर मुद्रणकार्य करने के लिये ही होता होगा अत: ऐसी स्थिति में सिंधुघाटी की इन मुद्राओं को विश्व के सर्वप्रथम ज्ञात मुद्रणालय के उपकरण ही मानना पड़ेगा। प्राय: विद्वानों की यह सम्मति है कि ये मुद्रायें व्यक्तियों अथवा देवताओं के नामों की हैं जिनका प्रयोग जादू-टोना तथा ताबीज आदि के लिए भी होता होगा, परन्तु इन मुद्राओं पर लिखे लेखों से इस सम्मति की पुष्टि नहीं होती। उदाहरण के लिये आकृति सं० ८ के मुद्रा-चित्र का उपयोग निस्संदेह श्वेताश्वतर-उपनिषद् के कुछ श्लोकों के अर्थ को समझाने के लिए होता होगा। इसी प्रकार ऊपर उल्लिखित प्राय: सभी मुद्राओं का विषय मुख्यत: दार्शनिक ही प्रतीत होता है।

तथाकथित वृक्षपूजा और पशुपूजा

प्राय: विद्वानों ने वृक्षपूजा और पशुपूजा को सिंधुघाटी के धर्म का मुख्य अंग माना है, परन्तु मुद्राचित्रों तथा उन पर प्राप्त लेखों से इस बात की पुष्टि नहीं होती। वृक्ष और पशु वहाँ सर्वत्र दार्शनिक काव्य-प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। आकृति सं० २,५,६ और ८ में चित्रित वृक्षों और पशुओं की चर्चा ऊपर हो चुकी है। उसमें पूजा का कोई संकेत नहीं मिलता। इसके विपरीत वे स्पष्टत: दार्शनिक प्रतीक ही प्रतीत होते हैं और इस प्रतीकवाद के मूल में जो दार्शनिक विचार-धारा है उसकी पुष्टि वैदिक उद्धरणों से भी की गई है।

वृक्ष को प्रतीकरूप में ग्रहण किये जाने की परिपाटी उपनिषदों में विशेष रूप से स्पष्ट हुई। उदाहरण के लिए, बृहदारण्यक[1]-उपनिषद् के निम्नलिखित

(१) बृ० उ० ३, ९, १–७।

स्थल को प्रस्तुत किया जा सकता है :—

"वनस्पति वृक्ष जैसा होता है, पुरुष भी वैसा ही होता है—यह बिल्कुल सत्य है। वृक्ष के पत्ते होते हैं और पुरुष के शरीर में पत्तों की जगह रोम होते हैं; पुरुष के शरीर में जो त्वचा है, उसकी समता में इस वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है। पुरुष की त्वचा से रक्त निकलता है और वृक्ष की त्वचा से भी गोंद निकलता है। जिस प्रकार आघात लगने पर वृक्ष से रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुये पुरुष-शरीर से रक्त प्रवाहित होता है। पुरुष के शरीर में मांस होता है, वनस्पति के शर्करा (छाल का भीतरी भाग); पुरुष के स्नायु होते हैं और वृक्ष में किनाट जो स्नायु की भांति स्थिर होता है। पुरुष के स्नायुजाल में जैसे हड्डियाँ हैं, वैसे ही किनाट के भीतर काष्ठ है, मज्जा तो दोनों में समान है।"

इस शरीररूपी वृक्ष का प्रेरक अहंनाम आत्मा है; इसी का उल्लेख तै०उ०[1] में इस प्रकार किया गया है—

अहं वृक्षस्य रेरिवा कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि।
द्रविणं सुवर्चसम् सुमेधा अमृतोक्षितः।।

सिंधुघाटी के चित्रों में वृक्षरूपी शरीर से संबद्ध पुरुष यही है।

पशु को प्रतीक रूप में ग्रहण किए जाने की प्रथा भी वैदिक साहित्य में बहुत प्रचलित रही है। हंस आदि पक्षी के रूप में तो आत्मा को आज तक चित्रित किया जाता है। तै०उ० में उसके शिर, पक्ष-द्वय, पुच्छ आदि का वर्णन अनेक ढंग से किया गया है उसका एक उदाहरण[2] यह है—

तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोदो उत्तरः पक्षः।
आनन्द आत्मा। ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा।।

यह आत्मा ही नवद्वार वाले शरीररूपी नगर में रहने वाला हंस है जो बाह्यजगत् के चराचर का स्वामी[3] भी है। बाह्यजगत् के संदर्भ में, आत्मा की सबसे अच्छी कल्पना सम्भवतः मेध्य अश्व के रूप में पाई जाती है। इसमें एक

---

(१) तै० उ० १–१०।
(२) तै० उ० २–५।
(३) नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च। (श्वे० उ० ३, १८)

विशेषता है कि इसके चार रूप हैं जो क्रमशः हय, वाजी, अर्वा तथा अश्व[1] कहे जाते हैं। "उषा इस मेध्य अश्व का शिर है, सूर्य नेत्र, वायु प्राण, वेश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख और संवत्सर उसका आत्मा है। द्युलोक इसकी पीठ है, अन्तरिक्ष उदर, पृथिवी पादस्थान, दिशाएं पार्श्वभाग, प्रदिशायें पसलियाँ, ऋतुएँ अंग, मास और अर्धमास पर्व, दिन-रात प्रतिष्ठा, नक्षत्र अस्थियां, आकाश माँस, बालू ऊबध्य (उदर का अर्धजीर्ण अन्न), नदियाँ नाडियाँ हैं, पर्वत यकृत् और हृदय के माँस-खंड, औषधियाँ और बनस्पतियाँ रोम हैं ; उदयोन्मुख सूर्य ऊपरी भाग, अस्तोन्मुख सूर्य निचला भाग, जमुहाई विद्युत, शरीर का हिलना घनगर्जन; मूत्रत्याग वर्षा तथा हिनहिनाना उसकी वाणी है। ......इसने हय होकर देवताओं को, वाजी होकर गन्धर्वों को, अर्वा होकर असुरों और अश्व होकर मनुष्यों को वहन किया है।" इस चित्र की प्रतिकृति मोहेनजोदरो से प्राप्त मुद्राचित्र[2] में देखी जा सकती है। यद्यपि इस चित्र का केवल स्कन्ध से ऊपर का भाग ही अवशिष्ट है, परन्तु उसका खुला हुआ मुख, उसकी सूर्यमण्डलाकार आँख, कानों के पीछे अलंकरणरूप में लिखा 'उषा' तथा उससे नीचे किरण-जाल-सा अलंकरण उपर्युक्त अश्व-शिर की याद दिलाते हैं। परन्तु इसकी विचित्रता यह है कि इसके निचले जबड़े में जो दो दाँत दिखाई पड़ते हैं वे कुत्ते आदि हिंसक पशु के हैं और ऊपर के जबड़े में एक भी दाँत नहीं है। इसका कारण यह है कि यह उसी चीते या व्याघ्र का मेध्य रूपान्तर समझा जाता था जो 'वृत्राश्व' शीर्षक ग्रहण करके दक्षिणावर्त-रूप पाकर भी 'नाऽग्नि अग्नि न' कहा[3] जाता था क्योंकि वृत्रत्वप्रधान जीवात्मा अमेध्य होने से अग्निरूप नहीं हो सकता, मेध्य होने के लिये उसमें ज्ञानमयी उषा का किरणजाल एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसी प्रकार जो दो सींगवाला महिष वामावर्त-रूप में वृत्रत्व का प्रतीक है, वही एक स्थान[4] पर दक्षिणावर्त होकर तीन अर्द्धचंद्राकार सींगों को संयुक्त रूप में धारण करके मेध्य बनता है। ऐसा ही एक विचित्र पशुप्रतीक 'अश्ववृत्र मन' शीर्षक[5] ग्रहण किये हुये है; इसके सींग महावृषभ के, सूंड़ हाथी

---

(१) वृ० उ० १, १-२

(२) MFE., Plate LXXXVII, seal 259.

(३) वही, वही, seal 260.

(४) MEH.; Plate XCI, seal 240.

(५) MEH., Plate XCI, seal 249.

की, पूंछ सर्पाकार तथा मुख मनुष्य का है। यही प्रतीक अन्यत्र[1] भी पाया जाता है, परन्तु अंतर इतना है कि वहाँ उसका मनुष्य-मुख आवरणयुक्त होने से दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रतीक में जो रज्जुवत् आवरण का लपेटा दिखाया जाता है, उसको कुछ विद्वानों ने पुष्पमाला समझ कर सिंधुघाटी में पशुपूजा के प्रचलन को स्वीकार किया है, परन्तु इन प्रतीकों में प्राप्त शीर्षकों से स्पष्ट है कि यह आवरण ११ अन्नों[2], तथा वरुण नागों[3] का है और जिन्हें पुष्पमाला कहा गया है वह वस्तुतः वषट्कार-रूपी रज्जु का लपेटा है। एकशृंगी, त्रिशिरा आदि पशुओं का जो विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है उससे भी स्पष्ट है कि ये पूजे जाने वाले साधारण पशु नहीं, अपि-तु ये दार्शनिक तथ्यों का उदघाटन करनेवाले पशु-प्रतीक हैं। इनमें से प्रत्येक के सभी रूपों तथा उनसे संबंधित सभी लेखों के अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। सिंधुघाटी के पशुओं का यह अध्ययन यदि वैदिक साहित्य में उल्लिखित पशुओं के साथ तुलना की जावेगी, तो वैदिक व्याख्या पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ेगा और जो ब्राह्मण-ग्रंथ आज निरर्थक वाग्जाल के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं वे वेदभाष्य के अनुपम ग्रंथ सिद्ध होंगे।

अतः सिंधुघाटी-लिपि को पढ़ने में अब तक जो सफलता मिली है, उसके आधार पर यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय कला में अभिव्यक्त होने वाला राष्ट्रीय आत्मा निरंतर एक रहा है। ऋग्वेद के वागंभृणीसूक्त में जो 'राष्ट्री' नामक महाशक्ति विविधरूपा अभिव्यक्तियों में प्रकट होती बताई गई है वही उपनिषद् और सिंधुघाटी में समानरूप से 'परा' संज्ञा ग्रहण करती है। सिंधुघाटी के एक चित्र में आत्मा को पुरुष-रूप में और पराशक्ति को स्त्रीरूप में चित्रित किया गया है; इनमें से प्रत्येक अपने हाथ में अपने-अपने नाम का प्रथम वर्ण पकड़े हुये हैं—इन्हीं अ तथा प वर्णों से मिलकर 'अपः' शब्द बनता है जो वेद से लेकर मनुस्मृति तक निरंतर आदिसृष्टि के रूप में माना गया है—'अप एव ससर्जादौ'। अपः का साधारण अर्थ जल है, परन्तु श्वेताश्वतर-उपनिषद् के अनुसार वह वस्तुतः आत्मा की 'ज्ञानबलक्रिया' का रूपाँतर होने से केवल 'ज्ञानमय कर्म' है सिंधुघाटी के उक्त चित्र में इसी 'अपः' के द्वारा एक ओर संसार-रूपी वृक्ष के पत्तों आदि का निर्माण होता है और दूसरी ओर उन पत्तों के चरने

(१) MFE., Plate XCVIII, Seal 636; plate C, seal A.
(२) वही, Plate C, seal A.
(३) वही, Plate XCVIII, seal 606.

वाले दो मृगों का। अन्न और अन्नाद की यह द्विविध सृष्टि मोहेनजोदरो के एक दूसरे चित्र में पीपलवृक्षरूप अन्न से संयुक्त दो अजों के रूप में दिखाई गई है और उपनिषद् के निम्नलिखित वाक्य को चरितार्थ कर रही है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

वेद और सिंधुघाटी की उक्त पराशक्ति दो रूपों में अभिव्यक्त होकर आत्मा का आवरण बनती है। प्रथम रूप में वह प्रकाशमय आवरण है जिसका नाम 'वरुण' है, दूसरे रूप में वह 'वृत्र' नामक अंधकारमय आवरण बन जाती है। वरुणरूपी आवरण के प्रभाव से आत्मा तीन ज्योति-पुरुषों में परिणत हो जाता है जिनको क्रमशः इंद्र, वायु तथा अग्नि कहा गया है। मोहेनजोदरो से प्राप्त एक चित्र में इंद्र (आत्मा) शरीररूपी वृक्ष पर बैठा हुआ सिंहरूपी वृत्र को एक ऐसे ढके हुये पात्र के पास जाने से रोक रहा है जो 'व' तथा 'न' वर्णों से मिलकर 'वन' शब्द की आकृति का है। वन-शब्द की तुलना उपनिषद् के तद्वनम् से की जा सकती है जो तुरीय ब्रह्म है और जिसको इंद्र, वायु, तथा अग्नि में से केवल इंद्र ही उमा की सहायता से जान पाता है। मोहेनजोदरो के उक्त चित्र में भी इंद्र के साथ उमा का नाम लिखा है और वह वायु एवं अग्नि के प्रतीक-स्वरूप दो ऐसे पुरुषों को लड़ने से रोक रही है जो उक्त शरीररूपी वृक्ष की दो शाखाओं को अस्त्र बनाकर परस्पर लड़ने के लिये उद्यत हैं। इन दोनों शाखाओं में से प्रत्येक में पाँच-पाँच पत्तियाँ हैं जो क्रमशः पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों की प्रतीक हैं। निस्संदेह ये दोनों लड़ने वाले पुरुष आत्मा के क्रमशः कर्ता एवं भोक्ता-पक्ष के प्रतीक हैं और इन दोनों की मध्यस्थता करने वाली उमा वही परा शक्ति है। दो अन्य चित्रों में भी, ये दोनों पुरुष दो व्याघ्रों अथवा सिंहों के रूप में दिखाये गये हैं और उन दोनों के बीच में खड़ी हुई एक ज्योतिर्मुखी आकृति इन दोनों को लड़ने से रोक रही है। परन्तु हड़प्पा से प्राप्त एक चित्र में ये दोनों सिंह एक साथ नाचते दिखाये गये हैं और एक पुरुष को शिर के बल इस प्रकार उलटा खड़ा किया गया है कि वह एक सूखे वृक्ष के ठूंठ सा दिखाई दे और उसके मूलाधार से प्रस्फुटित होती हुई, चार पत्तियों सहित एक नवीन शाखा बनाई गई है जो छान्दोग्य-उपनिषद् के निम्नलिखित वाक्य को चरितार्थ करती है—यद्येनत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयात् जायेरन् एव अस्मिन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि—यदि इस सत्य को सूखे ठूंठ से भी कह दिया जाय, तो उसमें भी शाखायें पैदा हो जावें और पत्ते निकलने लगें। जिस सत्य का यहाँ उल्लेख

किया गया है वह 'श्रम' नामक ज्येष्ठ प्राण है, और सिंधुघाटी के उक्त चित्र में भी उक्त पुरुषरूपी वृक्ष को 'श्रमवृक्ष' नाम दिया गया है जो उपर्युक्त अपः-नामक ज्ञानमय कर्मजल से सिंचित होकर पल्लवित होता है। इसी 'ज्ञानमय-कर्मजल' की कल्पना व्यक्त करने के लिए कर्म तथा ज्ञान के प्रतीक सिंहद्वय को परस्पर लड़ने के स्थान पर एक साथ नाचते हुये दिखाया गया है और पुरुषरूपी वृक्ष के हाथों और पैरों को इस स्थिति में रक्खा गया है कि शिर को उभयनिष्ठ मानकर दो बार 'जनक' शब्द की रचना हो गई है।

कर्म और ज्ञान के बीच जिस प्रकार भारतीय दर्शन और कला ने समन्वय स्थापित किया है उसी प्रकार वरुण और वृत्र के बीच भी सामंजस्य लाने का प्रयत्न मिलता है। इस दृष्टि से आत्मा को ब्राह्मणग्रंथों में सर्वतोमुखी अग्नि कहा गया है और उस के छः मुख बताये गये हैं। मोहेनजोदरो के एक चित्र में एक हृदयाकार 'उखा' नामक वस्तु से छः सग्रीव शिर चारों ओर निकलते हुये दिखाये गये हैं और एक अन्य चित्र में इन छः के जो नाम दिये गये हैं उनमें से तीन तो ज्योतिर्मय इंद्र, वायु तथा अग्नि देवों के हैं और तीन क्रमशः वृत्र, अन्न तथा अयज-नामक आवरणों के हैं। यही सर्वतोमुखी अग्नि पुराणों के षडानन स्कन्द के रूप में परिणत हो जाता है जो वैदिक अग्नि की भाँति ही देवों का अग्रणी और सेनानी माना जाता है। इसी समन्वय को व्यक्त करने के लिये सिंधुघाटी के एक चित्र में पुच्छ और पिछले पैरों सहित आधा धड़ चीते का बनाकर उसके अगले पैरों पर एक पुरुष बनाया गया है जिसके शिर मेंढ़े के दो सींग बनाये गये हैं और उनके नीचे निकलता हुआ एक तीर है जिसके नीचे उसका एक हाथ दण्डाकार में परिणत हो गया और दूसरा हाथ आगे को उठा हुआ दिखाया गया है। मोहेनजोदरो की खुदाई के निम्नतरस्तर-प्राप्त एक मुद्राचित्र में सिंहरूपी वृत्र एक 'प' वर्ण की आकृति के सामने चुपचाप खड़ा है। यह 'प' वर्ण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसी पराशक्ति का प्रतीक है जो वेद में राष्ट्रीवाक्, आगमों में त्रिपुरसुंदरी तथा पुराणों में जगदम्बा के रूप में दिखाई पड़ती है। अतः जो सिंह अन्य चित्रों में शरीररूपी वृक्ष अथवा आत्मारूपी वन को क्षति पहुंचाने के लिये प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है उसका यहाँ 'प' वर्ण के सामने शान्त हो जाना स्पष्ट बतलाता है, वह पराशक्ति की अधीनता स्वीकार कर चुका है। इसी कल्पना को लेकर, परवर्ती काल में सिंह को देवी का वाहन बना दिया गया। सिंधुघाटी के एक मुद्राचित्र में विचित्र पशु सिंह के ऊपर बनाया गया है और उस पर 'अपंच य' वर्ण लिखा

हुआ है जिसका अर्थ है कि इस प्रतीक के अन्तर्गत वृत्र के पंचवर्णों रहित 'यज्ञ' अभीष्ट है। इसी प्रकार एक अन्य चित्र में दण्डाकार 'अ' वर्णसदृश तने वाले वृक्ष की सभी पत्तियों से 'अन' शब्द को आकृति बनती हुई दिखाई गई है और उस वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ सिंह उस वृक्ष पर स्थित पुरुष द्वारा प्रस्तुत की गई एक पत्ती के लिए मुख फैला रहा है। इस चित्र के ऊपर जो लेख है उसमें 'अग्नि, अप, वृत्र तथा ग्यारह अन्नों का समावेश व्यक्त किया गया है।

वरुणत्व और वृत्रत्व के बीच यह समन्वय भारतीय दर्शन में आवश्यक माना गया है, क्योंकि इसके अभाव में अमृत की प्राप्ति नहीं होसकती। इसीलिए समुद्र-मंथन देवों और असुरों के सहयोग से ही संभव हुआ और इसी के परिणाम-स्वरूप अमृत-समेत चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई। परन्तु देवों और असुरों का यह सहयोग नहीं रह सका, क्योंकि दोनों में त्याग-बुद्धि का अभाव था जिसके परिणाम-स्वरूप दोनों में लोभ और क्रोध ने घर किया। देवों की ओर से, ऋग्वेद में शृंगवृष प्रजापति का कुंडपायी पुत्र इन्द्र-वृषभ उत्पात करने लगा और उनके शत्रुओं की ओर से शंबर, शुष्ण आदि अपना पौरुष दिखाने लगे। सिंधुघाटी में एक ओर शृंगवृष के कुंडपायी पुत्र को एक रौद्ररसावतार वृषभ के रूप में चित्रित किया गया जिसके सामने सदा एक कुंड सा रक्खा रहता है और दूसरी ओर एक दीर्घशृंग महिष की सृष्टि की गई जिसकी ध्वंस-क्रिया के चित्रों को देख कर पौराणिक महिषासुर की याद आ जाती है। बौद्धदर्शन में मार और जैनदर्शन में मोह इसी प्रकार की वृत्रशक्ति का प्रतीक बनकर आत्मा की साधना में बाधा डालता है; वैदिक और सिंधुघाटी की परम्परा में देहरूपी वृक्ष के निवासी आत्मा को तंग करने के लिए व्याघ्ररूपी वृत्र तुला हुआ है।

भारतीय दर्शन के सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि इस समस्या का समाधान क्या हो? वेदों ने इसका हल ब्रह्म-विजय में देखा, जैन दर्शन ने मोहराज-पराजय द्वारा आत्मा को जिन बनाने का लक्ष्य रक्खा, बौद्धों ने 'मार', शैवों ने 'त्रिपुर' अथवा मदन को ध्वस्त करना आवश्यक माना और वैष्णवों ने असुरों अथवा राक्षसों के विनाश की योजना बनाई परन्तु प्रश्न ज्यों का त्यों रहा; इस विजय का क्या रूप हो और यह कैसे प्राप्त हो? सब का उत्तर एक था—विजय का अर्थ शत्रु का संपूर्ण तथा सर्वकालिक विनाश नहीं है, क्यों कि ऐसा संभव नहीं। चाहे इंद्र-वृत्र-संघर्ष हो और अथवा देवासुर-संग्राम, कभी वृत्रों अथवा असुरों का सर्वनाश नहीं हो पाया; हो भी कैसे? वस्तुतः दोनों ही उसी पराशक्ति के दो पक्ष हैं जो आत्मा की 'ज्ञानबलक्रिया' कही गई है। अतः वेद से

लेकर अब तक, भारतीय दर्शन ने एक ही उपाय सुझाया, वह है योग—ऋग्वेद की भाषा में वह छन्दसाँ योग या जिष्णु योग है; उपनिषदों में उसी को प्रणवोपासना कहा गया है जिसमें प्रणवरूपी धनुष पर रखकर आत्मारूपी तीर से ब्रह्म को बेधा जाता है :—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।

इसी योग में, शक्ति और शक्तिमान्, देव और असुर, ज्ञान और कर्म तथा व्यष्टि और समष्टि आदि सभी द्वन्द्वों की समाप्ति होकर एक संश्लिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है जिसे उपनिषद् की भाषा में दीपोपम आत्मतत्त्व कहा गया है और सिंधुघाटी के अनेक चित्रों में दीपाकृति में रक्खी हुई अग्नि-शिखा के रूप में प्राप्त है । यही शिव का ज्योतिर्लिङ्ग है और यही है वेदी पर स्थित यज्ञीय अग्नि । यही उस बोध का प्रतीक है जिसके विषय में कथन है :—

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।

सिन्धुघाटी के कुछ मुद्रालेख

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
1.	M.I.C., 19	अत्रि अग्निमान् अन
2.	M.E.H., XCVII, 532	नामरूप अनाम्र
3.	„ XCVIII, 599	(स्थूल)अम्राऽग्नि अनाम्र पकार और उकार धारण करने वाला इन्द्र (सूक्ष्म) अम्र
4.	„ XCVI 442	अप = इन्दुवृत्रभारत्राग्नि
5.	„ „ 474	अमा = मनना
6.	„ XCVII, 539	उ = मा
7.	M.F.E., XC, 23-a	सा इन्द्रा उमा
8.	M.F.E., XC, 23-b; 24-b	वनम्
9.	M.F.E., CI, 15	१—मन व (वरुण) अप २—अन-अन-अन व (वरुण) अत्रि
10.	M.I.C., CXII, 385	वृत्र वषट्
11.	आकृति, ४६	हिमदंडवृत्रसमुद्रद्वयअन मा
12.	M.I.C., CX, 279	वृत्रजस्न
13.	„ CXVII, 2	वृत्र मन (स्थूल), अन (अर्द्धस्थूल) मन (सूक्ष्म)
14.	„ „ 1	वृत्रप्राण म (अन्न?)
15.	„ „ 3	वृत्रपंचमना उष्ट्रमान
16.	„ CXI, 357	अनान्नस्तेन नमति
17.	„ „ 355	वृत्र अन्न मन
18.	M.E.H., XCIII, 306	वृत्र अनान्न अवर्णत्रय (स्थूल)
19.	„ „ 318	अपंच वृत्र यस्न
20.	„ XCII, 273	}
21.	„ „ 282	} वृत्रपापन्
22.	„ „ 276	}
23.	„ „ 284	ऋत्रपाप
24.	M.I.C., CXVII, 7	वृत्रमख
25.	„ „ 8	}
26.	„ „ 12	} वृत्रवरुण मख, अनान्नमन सप्तधा
27.	„ CXVIII, 4	}
28.	„ XCIII, 9	}
29.	M.F.E., XCIX, 673	पंचधा विभक्त प (परा)

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
30.	M.F.E. plate C, seal D	द्विधाविभक्त प (परा)
31.	„ XCIII, 14	वृत्र-रप ईश-अवर्ण अवर्णजय यश
32.	M.I.C. CXVIII, seal 9	अवर्णत्रय अनाग्नद्वय म (मन)
33.	„ CXII., 382	सप्ताग्नि
34.	M.F.E., LXXXIII, 24	अग्नि-अन-द्वय सप्ताग्नमनद्वय दमनाग्निद्वय
35.	M.I.C., CXVIII, 12-b	वायु
36.	M.F.E., CI, 12-a	यज्ञीय वा (वायु)
37.	„ „ 1 -b	अत्र्याग्नि
38.	„ „ 12-c	इन्दुवृत्र
39.	„ „ 8-a	वृत्रेन्द्राग्नि
40.	„ „ 13-a	अघ (मृग)
41.	„ „ 11-a	मन॰ नागद्वय वृत्र-अप-द्वय
42.	„ „ 11-b	वरुणवृत्र
43.	„ „ 14-b	पम्रि अग्नि
44.	„ „ 4-a	शत अन
45.	„ „ 5	अनाग्निबल
46.	„ „ 2-c	राष्ट्रमनबल—पा
47.	„ „ 7-a	वृत्रेन्दुमित्र, नागद्वयसप्त-अनाग्न, अग्न ३ अन-वृत्र
48.	„ „ 7-b	अवर्णद्वय (सूक्ष्म), अवर्णद्वय (स्थूल) रुरुवन् मदवान् वृन्देन्दु
49.	„ „ 7-c	उकारत्रय, मदवान् अपद्वय, वृत्रजनाग्न आ (रमा)
50.	„ „ 12-c	इंदुवृत्रमख
51.	MIC., CXVIII, 12-a	
52.	MEH., XCIII, 314	उकार अनाग्न, वृत्रद्वयाग्निन् अन
53.	MIC., CXII, 387 (आ० ८)	एकत्रित अत्रि अग्नि, एकादश अग्न
54.	MEH., XCIII, 307	उकारत्रयाग्न जह्न
55.	„ „ 312	वृत्रजह्नाग्न अग्नि
56.	„ „ 320	सवित्रेन्द्रजह्न जन
57.	MIC., CXII., 378 (आ० २८)	वृत्रहन् या वृत्रहा
58.	„ CIX., (आ० २७)	

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
59.	MFE., XXVIII., 641 (प्रा० ३१)	एकादश, अध्यर्ध वायु, अग्रज अग्नि, वृत्र इन्दु
60.	MEH., XCIII., 305 (प्रा० ३३)	क, वृत्र
61.	MFE.; C.I, 15, a-b	वृत्रद्वय त्रिवृत अकार
62.	MEH., XCI., 25 (प्रा० ३६)	घ (घ्राण), र (रसना), च (चक्षु), त (त्वक्), व (वाक्), श्र (श्रोत्र), म (मन)
63.	MFE., XCIX, 663 (प्रा० ४७)	त्रिवृत इंदु, एकत्रित
64.	MFE., LXXXVII, 222 (प्रा० ५०)	उकारद्वयाग्नि, एकादश अन्न
65.	MIC., XII., 17	वृत्राग्निगुनी प्राणाग्नी न्द्रेन्द्रू
66.	MFE., XCIV., 420	(65–66)
67.	MEH., XCIII., 318	अपंच वृत्र वषट्
68.	,, XCIV., 341	सवपन अन अस्ति द्यु
69.	M.F.E., XCVII, 590	अन अग्निन् मन
70.	,, ,, 573	वृत्र-वषट्-मन-मान
71.	,, XCIX., 648	हस्तिमान् अन
72.	,, CII., 15-a,b	शताग्न
73.	,, ,, 14-a,b	असि-अम एकादश मन्न
74.	,, XCVII., 587	इन्द्रवृत्राग्निषडान्न
75.	,, LXXXVIII., 310	मन १
76.	,, LXXXV., 153	चतुरग्नि
77.	,, LXXXVIII., 322	चतुर्विध अग्नि
78.	,, LXXXV., 108	हिधु-मानन्-इंद्र
79.	MEH., XCIII., 325	सेन्द्रवृत्र ऐन्द्रमैत्र
80.	MFE., LXXXV., 121	वृत्रसेन्द्र (वृद्ध) एकादश
81.	,, XCVIII, 611	इनन्द्रावरुण
82.	,, LXXXVIII., 283	वृत्रवषट्-इन्द्र-अन-राष्ट्र
83.	,, XCVI, 518	मननवृत्रजहनवृताग्न
84.	,, LXXXV., 129	शत अन्नानि द्वादशाग्न्याग्नि-भारत्र-राष्ट्र
85.	,, LXXXV., 142	शत मन्नानि
86.	MIC., CX., 319	शताग्नवत् नाम भरत्र
87.	MEH., XCI., 227	मित्राश्वसरिर भात्र एकादश

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
88.	MFE., LXXXIX., 362	अन्ना···राष्ट्र
89.	MEH., ,, 124	वृत्र राष्ट्र
90.	,, ,, 110	वृत्रजन एकादशवरुण
91.	,, ,, 146	वृत्रएकादश
92.	,, ,, 145	वृत्रसेन्द्रएकादशो
93.	,, ,, 139	वृत्रसोमाएकादश
94.	,, XCI., 241	वृत्रसेन्द्राग्निरग्निवृत्रजनेन्द्र
95.	,, LXXXVIII., 93	वृत्रएकादशी
96.	,, ,, 87	वृत्ररन् नर-अन-राष्ट्रदान
97.	,, ,, 78	वृत्रएकादशाग्नि एक अन्न
98.	,, ,, 166	वृत्रमानसपानपा
99.	,, LXXXVII., 89	इरा
100.	,, XCI., 233	अनदमा
101.	,, XCI., 236	मत्र
102.	,, ,, 235	सेन्द्र
103.	,, ,, 235	वृत्रेन्द्रमंत्र
104.	,, ,, 240	वृमा उ ३
105.	,, ,, 256	अन अग्नि ६ मन नद
106.	,, ,, 260	शतान्नानि इंदुपा अम
107.	,, XC., 220	अन्न-अशन-अग्निन्
108.	,, ,, 168	इंद्रवृत्राग्नि १
109.	,, ,, 171	अग्नि षट्
110.	,, 181	वृत्राहा
111.	,, 211	अन नाना एक
112.	,, 212	मन
113.	MIC., CIII., 10	वृम
114.	,, CXVI., 2	वृमाग्नि इदु
115.	,, CXI., 334	वृम १२ इन्दून अन
116.	,, CXV., 550	वृमवषट् अग्नि
117.	,, CV., 58	वृमन जवनन् ईश अपोनपा
118.	,, CXV., 548	नमन वृम मम
119.	,, ,, 551	अशाग्नि उन्मन
120.	,, ,, 557	वृत्र उष्ट्रमाना नानाग्नि अशानि
121.	,, ,, 553	त्र उष्ट्रमाना वृत्राग्निन् अन इंदुपा

क्रमाङ्क	मुद्रा			मुद्रालेख
122.	MIC.,	CVX.,	554	एकत्रित अत्रि अग्निन् अन
123.	"	"	547	अन्न
124.	"	"	542	द्वितचतुष्टय द्वितचतुष्टय अन्नानि
125.	"	"	543	अत्रि अग्नि मित्र ११ अन्न
126.	"	"	544	अनाग्निरग्निनाभाभौम
127.	"	"	557b	अपापन जश्न नमन
128.	MEH.,	XCVII.,	540	वना
129.	"	"	517	नग्न, वृत्रद्वय मन
130.	"	"	497	वृत्रेन्द्राग्नि, मु
131.	"	"	502	अबर, उम्
132.	"	"	505	अनान्न
133.	"	"	506	वरुण म, अम
134.	"	"	561	११ अन्न
135.	"	"	551	अत्रि अग्नि
136.	"	"	499	एकादश अन्नाग्नि
137.	"	"	501	सोऽग्निः (?), उमा
138.	"	"	542	त्रिवृत्र जश्न
139.	"	"	543	सवृत्र जश्न
140.	"	"	521	अपद्वय अन, अनाग्नि
141.	"	"	575	व(रुण) जश्न, उम् अप-अप-अप
142.	"	"	580	अग्नि मन अन्न, उ अपद्वय व(रुण);अप-अपा
143.	"	"	573	स वै अंत्राग्नि द्वादशान्नानि, क्षमा वा अन्नद
144.	"	"	576	वृत्रवरुणअन्नाग्नि, उमा, अग्नि
145.	"	"	561	एकादश अन्ना
146.	"	"	563	सवृत्र अनान्न अष्ट
147.	"	"	547	सेन्द्र
148.	"	"	577	अनन्तः उ-अन-अप (वामावर्त लिपि में भी) उमा
149.	"	"	504	स-अन्न-अन जन
150.	"	"	499	एकादश अन्नाग्नि, ऊन
151.	"	"	566	उषा, उ १
152.	"	"	557	३ पाप, न
153.	"	"	546	वृत्राग्नि, उ
154.	"	"	549	वामन नरनरअन

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
155.	MEH., XCVII., 544	अनाग्निा, उमा
156.	" " 545	वरुण, उमा
157.	" LXXXVIII., 95	नराग्रना
158.	" " 89	इरा
159.	" " 74	वृमक्षमनम्
160.	" " 102	वृत्रेन्द्रयज्ञ
161.	" LXXXIX., 125	नानादवाग्नि
162.	" " 129	अत्रिजन
163.	" " 137	वृत्रसेन्द्र एकादश
164.	" " 144	पानपा इंद्र
165.	" " 145	वृत्रसेन्द्रवृत्रएकादशी
166.	" " 146	वृत्र एकादश
167.	" " 148	रस उमा
168.	" " 149	अत्रि अग्नि
169.	" " 141	इंद्रवृताग्निनानाशि
170.	" " 147	वृतंभर
171.	" " 165	सीमन्
172.	" " 166	वृत्रमानसपानपा
173.	" XC., 168	इंद्रवृत्राग्नि
174.	" XCI., 233	अनदमा
175.	" " 231	षा उ
176.	" " 236	मैत्र
177.	" " 241	वृत्रसेन्द्राग्निरग्निवृत्रजन-सेन्द्र
178.	" " 230	अत्रिमना पीनवरुण
179.	" " 260	असि अन्ना न इंदुषा अम
180.	" " 254	वृत्रयशाग्नि मंत्र असि अन-अप-नवपा
181.	MIC., CXIII., 409	ईश अवर्णत्रयाग्नि
182.	" " 410	ईशानात्रि इंद्र
183.	" " 414	वृत्रद्वादशम् उमाग्नि
184.	" " 415	वृत्रवषट् द्वादशाग्नि
185.	" " 424	मम अष्टेन्द्रार मन
186.	" " 425	ईशतम उ चतुरग्नि
187.	" " 430	वृत्र ईश अम असि न अन्न
188.	" " 435	खग वृत्र गममाना अन्न

क्रमाङ्क	मुद्रा			मुद्रालेख
189.	MIC.,	CXIII.,	440	गम वृत्र खग
190.	,,	,,	436	ऋत्रपापन् असि अवसा न अग्न
191.	,,	,,	437	मम चतुर्विंशति इंद्र (वृद्ध)
192.	,,	,,	438	वृत्र अश्मासद् वषट्सद् जश्न १ अग्न
193.	,,	,,	439	ईश नाना एकऋण्ण
194.	,,	,,	453	रमा
195.	,,	,,	460	वृत्ररमा
196.	,,	,,	459	वृत्र-द-द-द दासवृत्र
197.	,,	,,	444	नर सप्तत्रित चतुर्मकर अग्न
198.	,,	,,	445	असि एकादश अग्नानि
199.	,,	,,	446	वृत्रवसना
200.	,,	,,	447	असि अन्नाग्नि (सूक्ष्म) अग्नि अन्ना (स्थूल)
201.	,,	,,	448	ईश्वर अवृत्रगमा
202.	,,	,,	449	सन्नतेन्द्रप
203.	,,	,,	451	ईशमना न अन
204.	,,	,,	456	स अन्नाना अवाग्नि न मन
205.	,,	,,	457	अत्रि किन्नर वृत्रद्वय द्वादशमास
206.	,,	,,	461	नागद्वय वृत्रद्वय अन
207.	,,	,,	462	...असि वृत्र अरनर
208.	,,	,,	463	अग्नि अन्न उमा
209.	,,	,,	464	वृत्रपापन् अवषट्रा यश उमा
210.	,,	,,	465	वृत्रमानन् अन
211.	,,	,,	466	वृत्रमान दास न अन
212.	,,	,,	470	वृत्र त्रिताग्नि न अग्नि द्वादश
213.	,,	,,	467	ईश अवर्णत्रय (स्थूल) अग्नि असि
214.	,,	,,	468	वृत्रेन्द्राग्नि, अग्नि अनाग्न, न अग्न
215.	,,	,,	469	वृत्रेन्द्रमित्र वृत्रत्रय अरनर
216.	,,	CXIV.,	472	अरम्
217.	,,	,,	475	वृत्रमानस-पान-प जश्न
218.	,,	,,	471	पञ्च यमा नक्रभ्रम
219.	,,	,,	476	} द्विमन उकारद्वय
220.	,,	,,	477	}
221.	,,	,,	479	स अत्रि अन्न
222.	,,	,,	480	अग्नि (चतुर्दिक्)

क्रमाङ्क	मुद्रा			मुद्रालेख
223.	MIC	CXIV	481	उमा
224.	,,	,,	482	इंद्रा
225.	,,	,,	483	इंदु इंद्र
226.	,,	,,	484	अग्नि
227.	,,	,,	487	वृत्रजघ्न
228.	,,	,,	488	वृत्रवषट्
229.	,,	,,	490	वृत्र अग्नाग्नि
230.	,,	,,	493	ईशमना, न अन
231.	,,	,,	526b	वृत्र-द-द-द दास
232.	,,	,,	528b	क
233.	,,	,,	529	सवृत्र अवर्णत्रय (स्थूल) त्रयाग्नि, अग्नित्रय अवर्णत्रय वृत्रसा।
234.	,,	,,	530	... ...
235.	,,	,,	531	घाताग्नि अंश घात व (रुण) अंश
236.	,,	,,	532	परापर-अन १ इंद्रा उमा (वामवर्त लिपि)
237.	,,	,,	499	वृत्रनागद्वय
238.	,,	CXVI.,	16	त्रिवृत्रेन्द्रमित्राग्नित्रय त्रिजघ्न नागेन्द्र नागत्रय
239.	,,	,,	20	सवृत्र असि
240.	,,	,,	15	सवृत्र ईश अमाग्नि असि
241.	,,	,,	10	राष्ट्राग्नि

2—MFEM. Pl. XC. 13. a,b,c.

12—MIC. Vol. I. XII. 14.

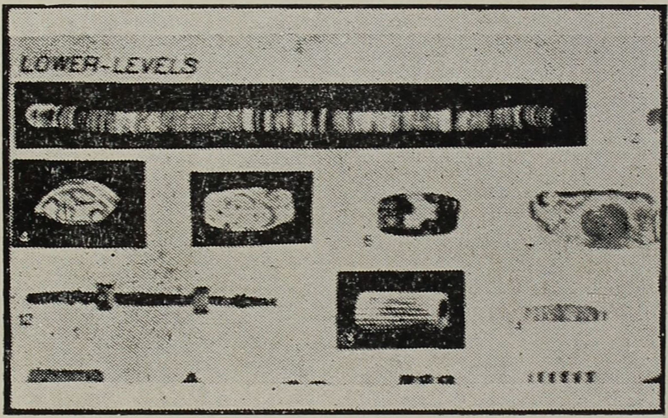

3—MFEM. Pl. CXI. 1.

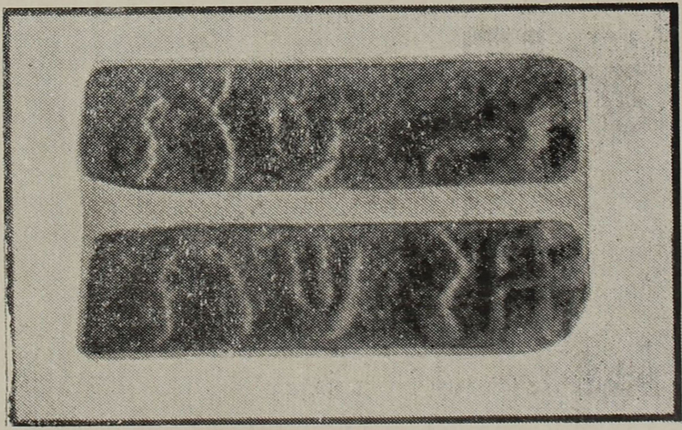

4—MFEM. XC. 15. a,b.

1—MIC. Vol-I Pl. XII. 19.

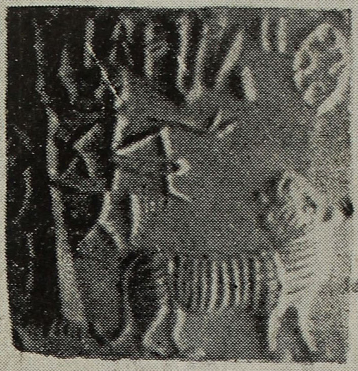

6—MFEM. XCVI. 522.

7—MIC. Vol. III CXII. 385.

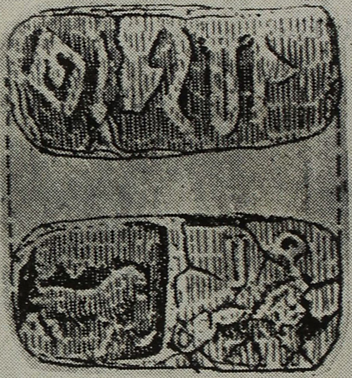

10—MFEM. CI. 15. a,b.

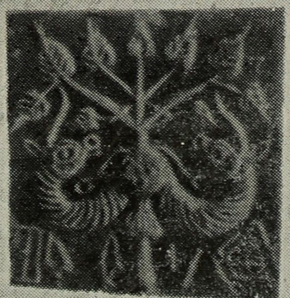

8—MIC. CXII, 387

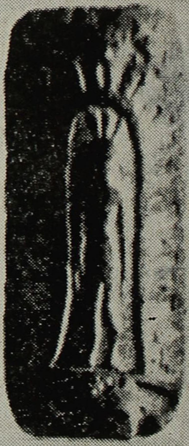

11—MIC. Vol. I. XII. 13.

5—MFEM, XC 23, a b.

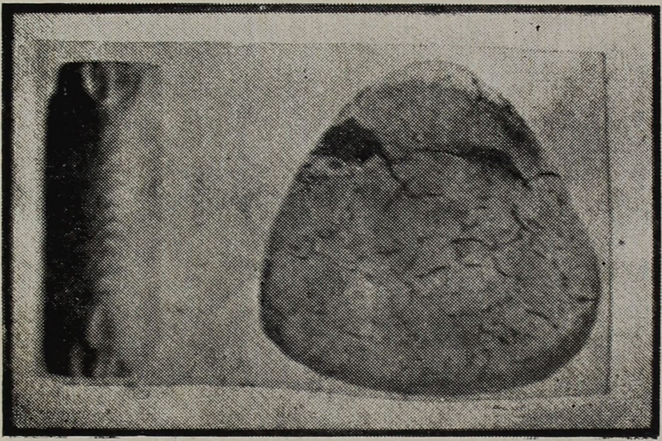

9—MFEM, CIV, 10, 11.

13—MIC, Vol. I, Pl. XII. 22.

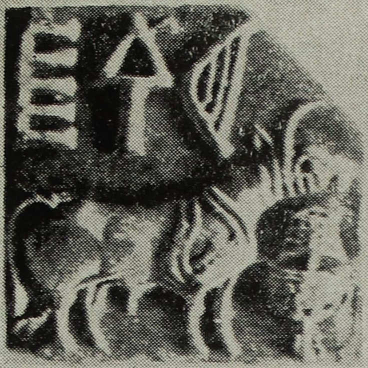

14—MIC. Vol. III. Pl. CV. 46.

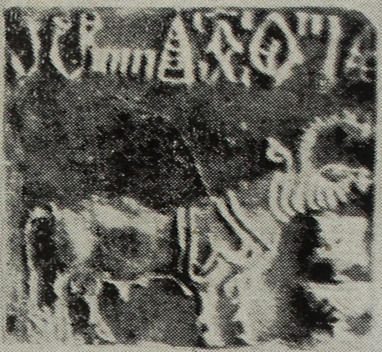

15—MIC. Vol. III. Pl. CV. 66.

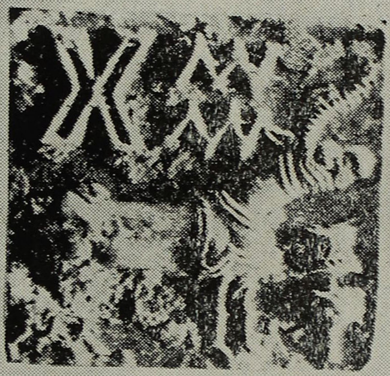

16—MIC. Vol. III. Pl. CVI. 102.

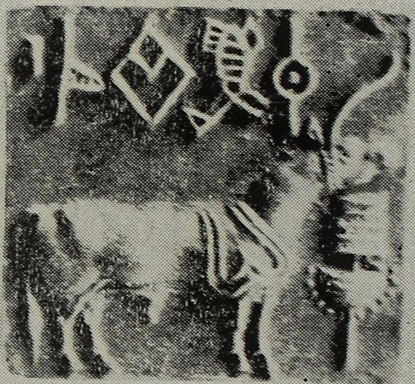

17—MIC. Vol. III. Pl. CV. 67.

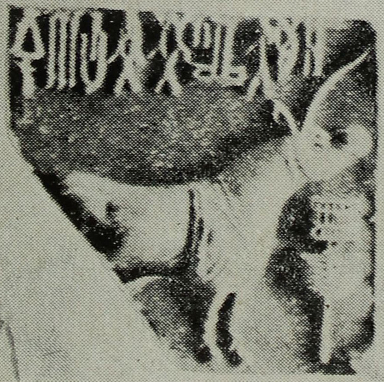

19—MIC. Vol. III. Pl. CV. 65.

18—MIC. Vol. III Pl. CV. 69.

20—MIC. Vol. III. Pl CV. 59.

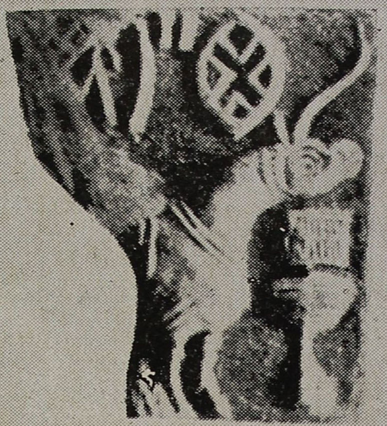

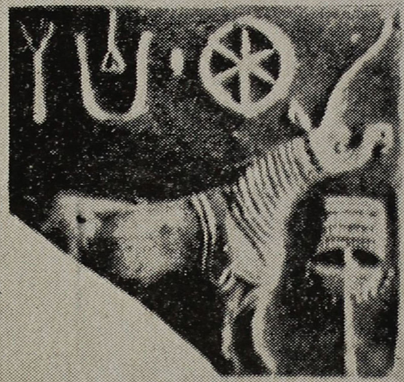

21—MIC. Vol. III, Pl. CV. 61.

22—MIC. Vol. III, Pl. CVI, 93.

23—MIC. Vol. III, Pl. CIV, 36

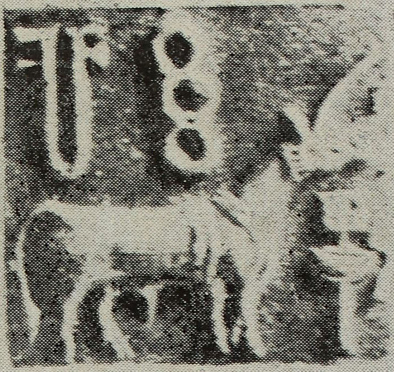

26—MIC. Vol. III, Pl. CIX, 221.

27—MIC. Vol. III, Pl. CIX, 252.

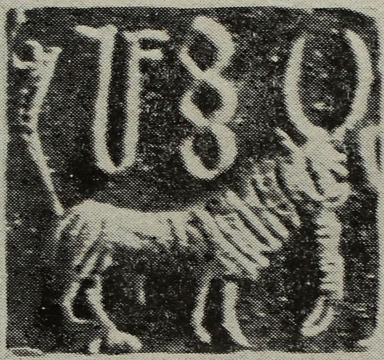

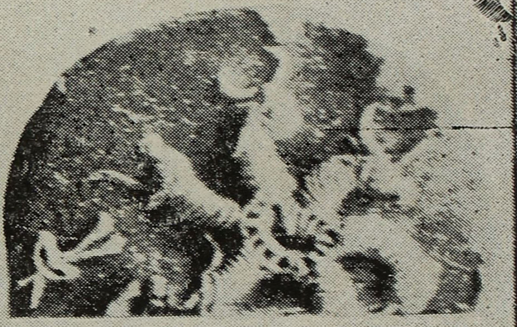

28—MIC. Vol. III, Pl CXII, 378.

29—MIC. Vol. III Pl. CXII 383.

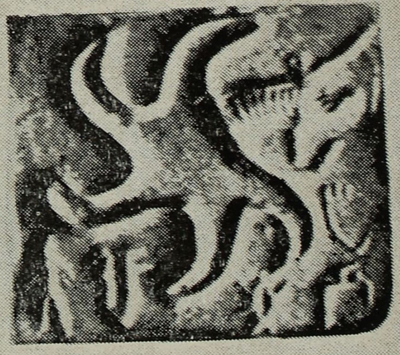

30—MIC. Vol. III, Pl. CXII, 382.

31—MFEM. Pl. XCVIII, 641.

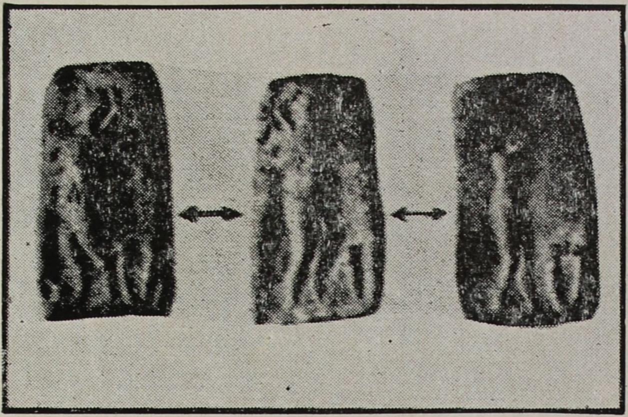

33—MEH, Pl. XCIII. 305.

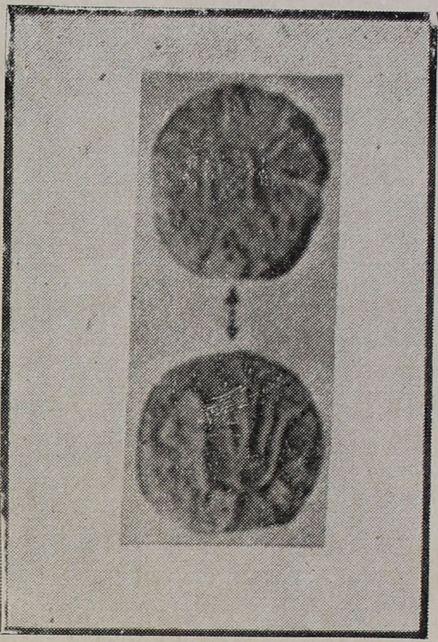

37—MEH, Pl. XCIII, 317.

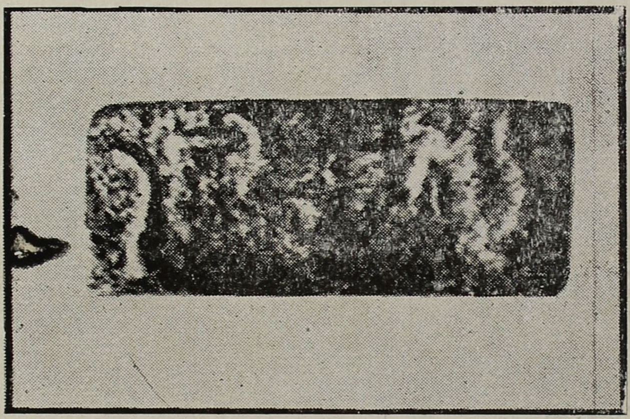

34—MFEM, Pl. CIII, 9.

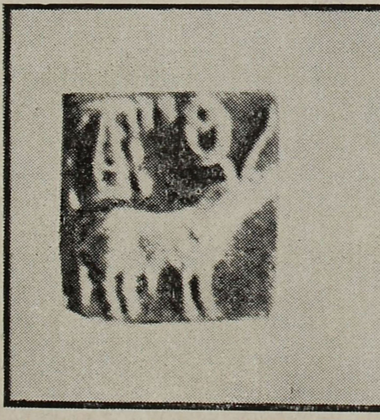

24—MIC. Vol. III, Pl. CX, 274.

25—MIC. Vol. III, Pl. CVIII, 167.

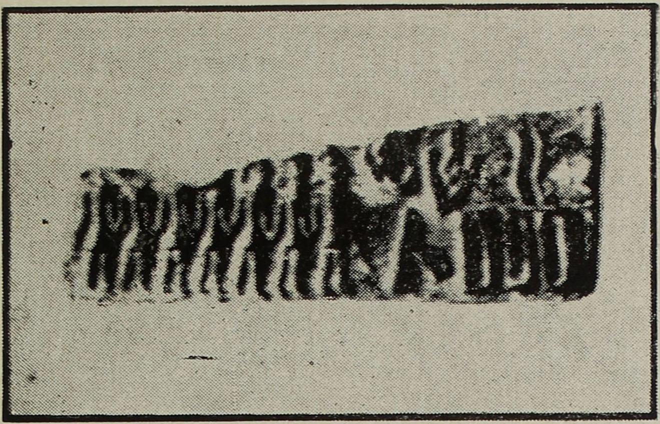

39—MEH, Pl. XCI, 251.

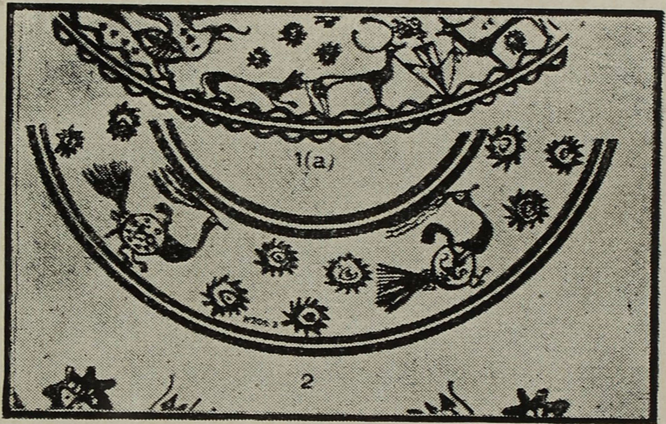

40—MEH. Pl. LXII, 2

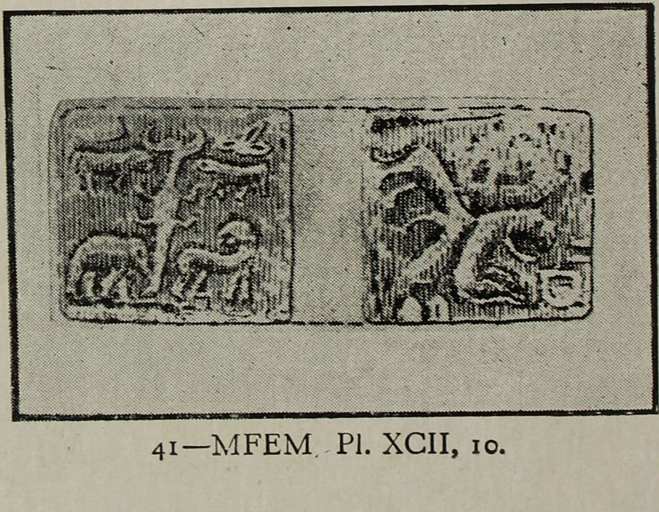

41—MFEM, Pl. XCII, 10.

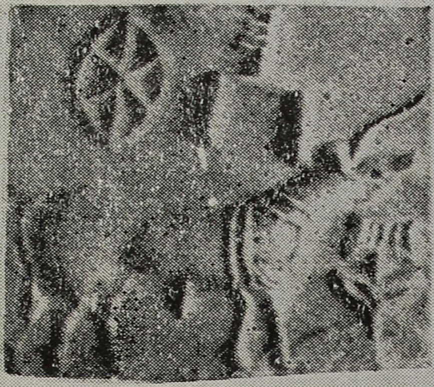

32—MFEM, Fl. XCVI, 530.

36—MEH, Pl. XCIII. 316.

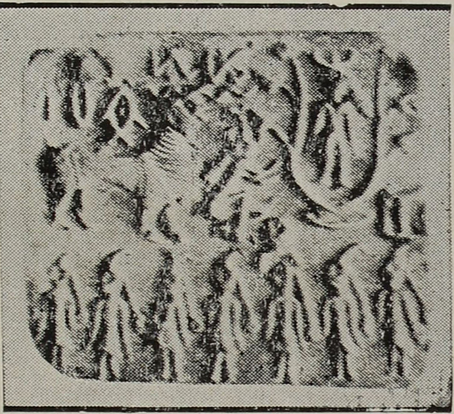

38—MFEM, Pl. XCIX, A.

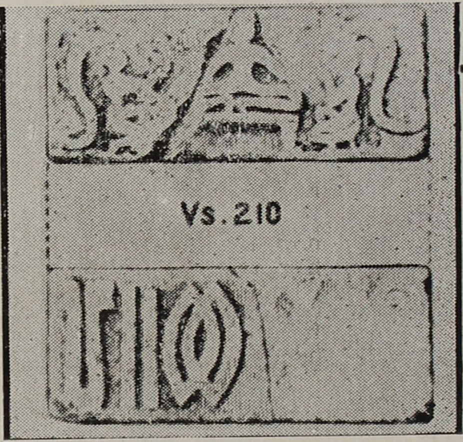

35—MIC. Vol. III, Pl. CXVIII, v.s. 210.

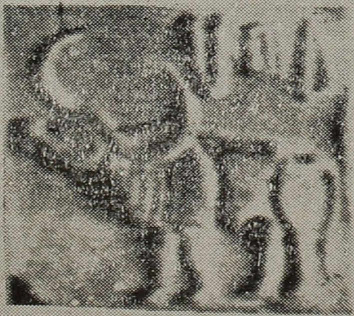

47—MFEM, Pl. XCIX 663.

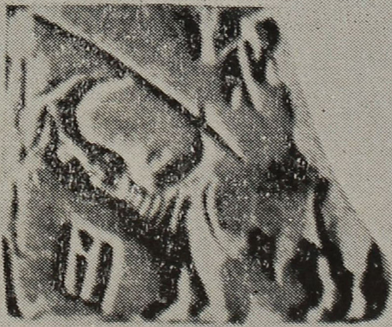

48—MFEM, Pl. LXXXVIII, 279.

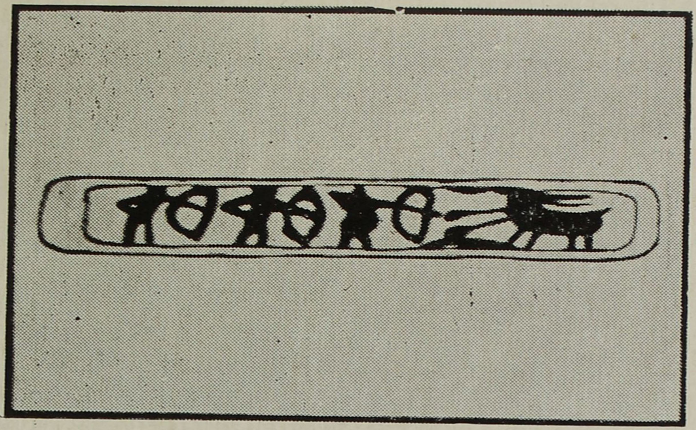

49—MFEM, Pl. XCI 24.

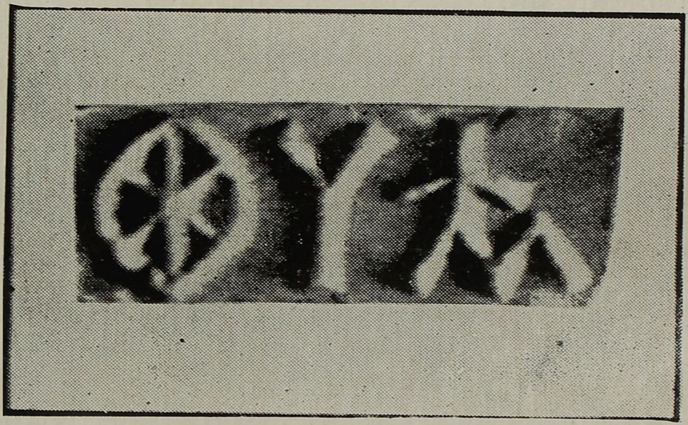

56—MFEM, Pl. LXXXIV, 101.

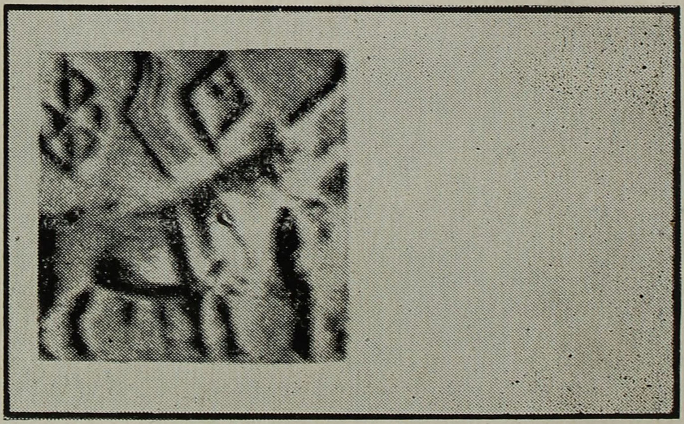

57—MFEM, Pl. XCV, 468.

42—MFEM, Pl. C III, 16.

44—MFEM, Pl. XCI, 12.

43/1—MFEM, Pl. XCII, 2-a.

43/2—MFEM, Pl. XCII, 2b.

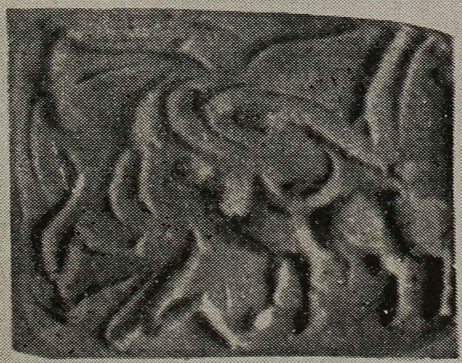

45—MFEM, Pl. XCVI, 510.

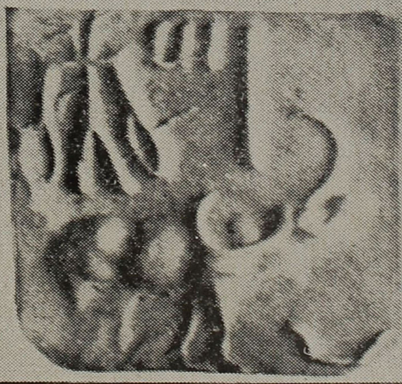

46—MFEM, Pl. C, E.

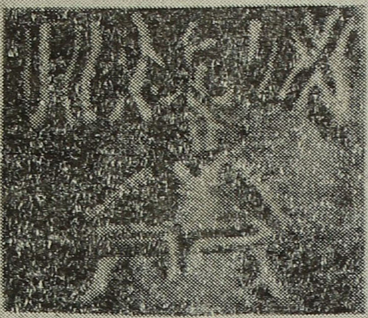

50—MFEM, Pl. LXXXVII, 222

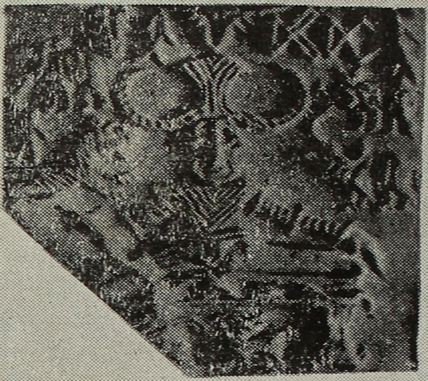

51—MFEM, Pl. C, F.

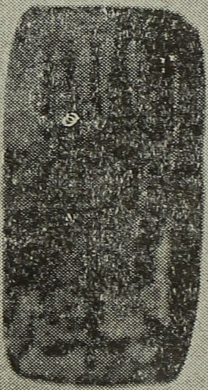

52—MEH, Pl. XCIII, 318.

53—MFEM, Pl. LXXXVII, 235.

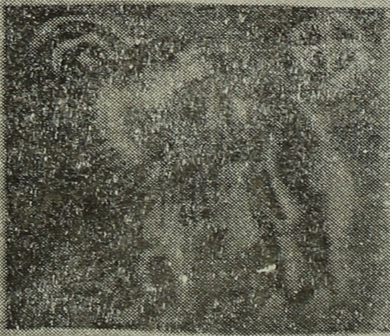

54—MFEM, Pl. XCVII, 554.

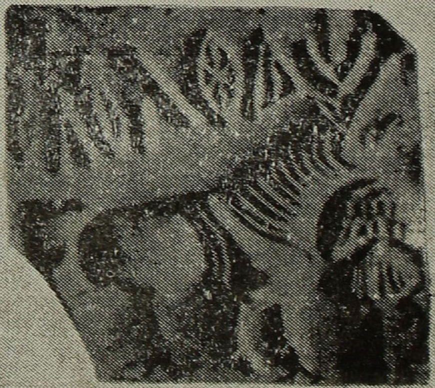

55—MFEM, Pl. XCVIII, 628.